(मुख्य पुराणों में जन्म और मृत्यु की अवधारणा)

(Concept of Birth and Death in the Main Puranas)

स्नातकोत्तर संस्कृत विभाग, जम्मू विश्वविद्यालय, जम्मू की पी0एच0डी0 की उपाधि प्राप्ति हेतु प्रस्तुत शोध प्रबन्ध

निर्देशक :
डा0 जगीर सिंह
एम0ए0, एम0फिल0, पी0एच0डी0
रीडर, स्नातकोत्तर संस्कृत विभाग
जम्मू विश्वविद्यालय, जम्मू
(जे0 एण्ड के0)

अनुसंधानकर्त्ता :
रिम्पी जम्वाल

जनवरी, 2005

IV copy

forwarded

[signature] 28/02/05

Head of P.G. Deptt. of Sanskrit
University of Jammu.

(मुख्य पुराणों में जन्म और मृत्यु की अवधारणा)

(Concept of Birth and Death in the Main Puranas)

स्नातकोत्तर संस्कृत विभाग, जम्मू विश्वविद्यालय, जम्मू की पी0एच0डी0 की उपाधि प्राप्ति हेतु प्रस्तुत शोध प्रबन्ध

निर्देशक :
डा0 जगीर सिंह
एम0ए0, एम0फिल0, पी0एच0डी0
रीडर, स्नातकोत्तर संस्कृत विभाग
जम्मू विश्वविद्यालय, जम्मू
(जे0 एण्ड के0)

अनुसंधानकर्त्ता :
रिम्पी जम्वाल

जनवरी, 2005

CERTIFICATE

It is to certify that Mrs. **RIMPY JAMWAL** has worked under my supervision and guidance on the topic entitled ***"CONCEPT OF BIRTH AND DEATH IN THE MAIN PURANAS"***, for the degree of Ph.D. (Sanskrit) University of Jammu.

It is further certified that ;-

1. This dissertation is the original research work of the candidate herself.
2. The candidate has worked exactly in accordance for the time period, prescribed by the statute of Jammu University.
3. The topic has been duly approved by the Ph.D.(Sanskrit) committee of the P.G. Deptt. Of Sanskrit & Research Board of Jammu University, Jammu.
4. The candidate has put her attendance and attended the seminars etc. in the Sanskrit Department under rule.
5. The work and conduct of the candidate remained satisfactory during her research work.

Jagir Singh

Supervisor :
Dr. Jagir Singh
(Reader)
M.A., M.Phil., Ph.D.
P.G. Deptt. Of Sanskrit
Jammu University
Jammu.

विषयानुक्रमणिका

भूमिका

प्राक्कथन

मुझे बाल्यकाल से ही संस्कृत में रूचि थी । इसका कारण माता–पिता की धार्मिक प्रवृति थी अर्थात् बचपन से ही माता–पिता की धार्मिक प्रवृति का प्रभाव मुझ पर पड़ना आरम्भ हो गया था । वे दोनों अत्यन्त उदार स्वभाव के थे और मुझे संस्कृत पढ़ने के लिए प्रोत्साहित करते रहते थे । उनका कहना था कि हमारे सभी धार्मिक ग्रंथ संस्कृत में रचित हैं और उनका ज्ञान प्राप्त करने के लिए संस्कृत भाषा का ज्ञान होना आवश्यक है । उनके इन विचारों का प्रभाव मेरे ऊपर अनजाने में पड़ने लगा , जिसके फलस्वरूप मुझे संस्कृत पढ़ने की इच्छा जाग्रत हुई । मैंने बारहवीं कक्षा ''राया हायर सकैण्डरी स्कूल से उत्तीर्ण की ।

तत्पश्चात् मैंने महाविद्यालय में प्रवेश किया । अन्य विषयों के मध्य संस्कृत का चयन किया । तदुपरान्त जब स्नातकोत्तर कक्षा में प्रवेश लेने के लिए जम्मू विश्वविद्यालय में प्रवेश किया तो मेरे सहपाठियों ने मुझे पुनः पुनः परामर्श किया कि मैं एजूकेशन विभाग में प्रवेश करूँ, क्योंकि व्यवसाय के दृष्टिकोण से लाभदायक है । परन्तु मैंने उनके परामर्श को नकारते हुए तथा संस्कृत विषय में अधिक रूचि होने के कारण स्नातकोत्तर कक्षा हेतु प्रवेश किया ।

सौभाग्यवश इसी कलावधि में पिता जी के गुरू महाराज का दर्शन लाभ हुआ। उन्होंने मुझे दर्शन (Philosopy) पढ़ने के लिए प्रेरित किया और मैंने अन्य विषयों के मध्य दर्शन को चुना और स्नातकोत्तर के पश्चात् इन्हीं की सद्प्रेरणा

[illegible]

[illegible]

[illegible]

[illegible]

[illegible]

[illegible]

[illegible]

[illegible]

[illegible]

[illegible]

[illegible]

[illegible]

[illegible]

[illegible]

[illegible]

[illegible]

[illegible]

से मैंने एम0फिल0 लघुशोध कार्य करने हेतु ''इन्द्रियाँ और देवता'' ऐतरेयोपनिषद् और देहस्थदेवताचक्रस्तोत्र के आधार पर चयन किया तथा एम0फिल0 की उपाधि ग्रहण की ।

एम0फिल0 की उपाधि ग्रहण करने से पूर्व स्नातकोत्तर कक्षा में एम0फिल0 की कक्षा में भी रूचि ''दर्शन'' विषय के प्रति अधिक रही । इसी कारण से मैंने एम0फिल0 में दर्शन विषय को आधार बनाकर शोध किया ।

जिस प्रकार किसी चिर–तृषित प्राणी को जब अल्प मात्रा में जल उपलब्ध होता है तो वे उसी में सन्तुष्टि कर लेता है, परन्तु प्यास नहीं बुझती । इसी प्रकार मेरी जिज्ञासा बढ़ती गई ।

यद्यपि मैंने एम0फिल0 में *''देवता और इन्द्रियाँ''* पर शोध कार्य किया था, मेरी एम0फिल0 की मौखिकी परीक्षा के समय परीक्षक महोदय एवं निर्देशक डॉ0 जगीर सिंह जी ने मुझे प्रोत्साहित करते हुए कहा कि आपका शोध कार्य बहुत अच्छा हुआ है और अब आपको व्यापक रूप से शोध करनी चाहिए । फलस्वरूप उनके इस परामर्श से –*''मुख्य पुराणों में जन्म और मृत्यु की अवधारणा''* शोध पर पंजीकरण जम्मू विश्वविद्यालय से करवा लिया ।

शोध कार्य के मध्य में अनेक प्रकार की बाधाएँ आती रही, परन्तु परमात्मा की इच्छा मानते हुए धैर्यपूर्वक उनका सामना करते हुए कार्य को निरन्तर करती रही । जब कोई विषय सम्बन्धी समस्या आई तो निर्देशक महोदय ने अपने मृदुल व्यवहार से सुगमतापूर्वक समाधान किया और मेरा शोध कार्य निर्बिघ्न सफल रहा। मैंने अपने शोध कार्य को पाँच अध्यायों में विभक्त किया है।

प्रथम अध्याय में ईश्वरीय ज्ञान, ईश्वर की खोज, ईश्वर का अस्तित्व, ईश्वर का स्परुप , ईश्वर के अवतार और विश्वरूपी ईश्वर का वर्णन किया गया है ।

द्वितीय अध्याय में सृष्टि का स्परूप, ब्रह्मा की उत्पत्ति, सृष्टि की आरम्भिक अवस्था, हिरण्यगर्भ और सृष्टि, विभिन्न प्रकार की सृष्टि, लोकों का वर्णन, महाप्रलय का वर्णन, ईश्वरीय सृष्टि और मानवीय सृष्टि में अन्तर का उल्लेख किया गया है ।

तृतीय अध्याय में जीव का स्वरूप एवं सामर्थ्य जीव का जन्म, जीव के कर्म, जीव की योनियाँ एवं मनुष्य जन्म की श्रेष्ठता का वर्णन किया गया है ।

चतुर्थ अध्याय में मृत्यु का स्वरूप , चैत्यात्मा, मृत्यु के समय की वृति के आधार पर योनि की प्राप्ति, मृत्यु के समय होने वाला कष्ट, मृत्यु के पश्चात् जीवात्मा की यात्रा, यमलोक का मार्ग, विभिन्न नरकों का वर्णन, देवयान और पितृयान मार्ग, जीव और जन्म का वर्णन किया गया है ।

पंचम अध्याय में आर्ष दर्शन और वर्तमान विज्ञान का मूल्यांकन किया गया है । जन्म–मरण और कर्मफल तथा मोक्ष का वर्णन किया गया है ।

शोध प्रबन्ध में प्रत्यक्ष रूप से सम्बन्धित अथवा अप्रत्यक्ष रूप से सम्बन्धित सहायक सामग्री के ग्रन्थों का प्रकाशन वर्ष सहित *"ग्रन्थ सूची"* में प्रतिपादन किया गया है ।

शोध प्रबन्ध की निर्विघ्नतापूर्वक समाप्ति के लिए सर्वप्रथम मैं अपने आराध्यदेव गुरुमहाराज की वन्दना करती हूँ जिनकी अपार कृपा से यह कार्य सम्पन्न होने जा रहा है । इसके पश्चात् सास–ससुर, माता–पिता, भाई–बहिनों,

देवर–ननद का आभार प्रकट करती हूँ, जिनके द्वारा आर्थिक सहयोग तथा मेरे मनोबल को बढ़ाया है ।

इस शोध प्रबन्ध की सफलपूर्वक निष्पन्नता के लिए महापुरूषों अथवा उनकी कृतियों का प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से सहयोग लिया गया है, उन सबके प्रति हार्दिक आभार व्यक्त करती हूँ ।

मैं शोध प्रबन्ध के सम्यक प्रकार से व्यवस्थापन हेतु तथा समय–समय पर मुझे समस्याओं का समाधान करवा कर शोध कार्य के लिए प्रबल प्रेरणा हेतु श्रेय के लिए अपने शोध निर्देशक डॉ0 जगीर सिंह जी की हार्दिक रूप से कृतज्ञ हूँ । उनके सफल निर्देशन एवं उत्साहवर्धन से ही आज मैं शोध प्रबन्ध को प्रस्तुत करने के लिए समर्थ हुई हूँ ।

मैं विभागीय प्राध्यापकगण डॉ0 शारदा गुप्ता, डॉ0 पुरुषोत्तम, डॉ0 सुषमा गुप्ता, डॉ0 रामबहादुर शुक्ला जी की भी आभारी हूँ ।

विभागीय अध्यक्षा डॉ0 रमणीका जलाली जी और डॉ0 केदार नाथ शर्मा के प्रति भी आभार व्यक्त करती हूँ, जिन्होंने समय–समय पर मुझे महत्वपूर्ण सुझाव दिये और उत्साहवर्धन किया ।

विभागीय शोध छात्रों का भी धन्यवाद करती हूँ, जिनमें पियूषबाला, ममता शर्मा, मीना रैना, मोनिका सम्वयाल, सुजाता शर्मा, उर्मिल जम्बाल, विनोद कुमार, विद्याधर शर्मा, अमन शर्मा, जिया लाल, कमल, सुदेश, विजय जी का जिन्होंने मुझे सहयोग दिया ।

श्री रणवीर, केन्द्रीय संस्कृत विद्यापीठ के प्राचार्य डॉ0 प्रीतम चन्द शर्मा, डॉ0 बिहारी लाल जी वशिष्ठ, प्रो0 यशपाल खजूरिया, डॉ0 वी0एन0 चौधरी, विभागध्यक्ष (शिक्षा शास्त्री विभाग) एवं डॉ0 प्रभा चौधरी जी की भी ऋणी हूँ, जिन्होंने शोध कार्य हेतु सद्–परामर्श दिये । इनके अतिरिक्त श्री रणवीर, केन्द्रीय संस्कृत विद्यापीठ की पुस्ताकालाध्यक्षा श्रीमति श्रेष्ठा जम्वाल तथा अन्य समस्त कर्मचारियों की भी आभारी हूँ, जिन्होंने मुझे शोध हेतु सामग्री उपलब्ध करवाई ।

श्री रणवीर अनुसन्धान पुस्तकालय, रघुनाथ मन्दिर जम्मू के पुस्तकालयाध्यक्ष डॉ0 धनीराम शास्त्री जी एवं अन्य कर्मचारी भी धन्यवाद के पात्र है । इसी प्रकार विभागीय पुस्तकालय के अध्यक्ष श्री विजय बडियाल एवं जतिन के प्रति भी आभार कृतज्ञता प्रकट करती हूँ, जिन्होंने मुझे समयोचित यथासंभव पुस्तकों द्वारा सहयोग दिया । इसके अतिरिक्त केन्द्रीय पुस्तकालय जम्मू विश्वविद्यालय के समस्त अधिकारीगण एवं कर्मचारीगण भी धन्यवाद के पात्र हैं, जिन्होंने गृह–सदस्यों की भाँति सहयोग प्रदान किया । विभाग के समस्त कर्मचारीगण का आभार प्रकट करती हूँ ।

इसके पश्चात् मैं अपने पतिदेव श्री गुरूचरण सिंह जसरोटिया, जो कि धन्यवाद के पात्र हैं, का आभार प्रकट किये बिना नहीं रह सकती, क्योंकि इस शोध कार्य की अवधि में कई बार मेरा मन घरेलू परेशानियों के कारण पी0एच0डी0 के शोध कार्य को बीच में छोड़ने को विवश हो जाती थी । इस दशा में वे मेरा मनोबल बढ़ाते और बाधाओं को सहर्ष स्वीकार करने की प्रेरणा देते थे।

सविनय भगवती माँ से समस्त विश्व के कल्याणार्थ प्रार्थना कर विद्धज्जनों से शोधकार्य की सफलता हेतु आर्शीवाद आकांक्षी ।

जनवरी, 2005

शोध छात्रा
रिम्पी जम्वाल
रिम्पी जम्वाल

संकेत सूची

क्रमांक		अध्याय
1.	अ0	अध्याय
2.	अं0	अंश
3.	अ0वे	अर्थवेद
4.	अनु0	अनुवाक
5.	अ0	अग्नि पुराण
6.	ई0	ईशावास्योपनिषद्
7.	उ0	उपरि विभाग
8.	उप0	उपनिषद्
9.	ऋ0	ऋग्वेद
10.	ऋ0भा0	ऋग्वेद भाष्य
11.	ऐ0	ऐतरयोपनिषद्
12.	एते0ब्रा	ऐतरेय ब्राह्मण
13.	क0	कल्प
14.	का0	काण्ड
15.	कठो0	कठोपनिषद्
16.	के0	केनोपनिषद्

17.	खं0	खण्ड
18.	ग0	गरूड़ पुराण
19.	छा0	छान्दोग्थोपनिषद्
20.	छा0ब्रा0	छान्दोग्य ब्राह्मण
21.	तै0	तैतिरीयोपनिषद
22.	देवी भा0	देवीभागवत पुराण
23.	नरसिंह0	नरहिसं पुराण
24.	ना0	नारद पुराण
25.	प्र0	प्रश्न
26.	प्रे0	प्रेत कल्प
27.	प्र0उप0	प्रश्नोपनिषद्
28.	पु0	पुराण
29.	पू0वि0	पू0 विभाव
30..	पृ0	पृष्ठ
31.	बा0	बाल
32.	ब्रहृन्ना0	ब्रहन्नारदीय पुराण
33.	ब्र0पु0	ब्रह्म पुराण
34.	ब्र0सू0शा0भा0	ब्रह्मसूत्र शांकर भाष्य
35.	बृह0उप	बृहदारण्यकोपनिषद्
36.	भ0पु0	भविष्य पुराण

37.	भ0गी0	भगवतगीता
38.	भा0	भाग
39.	भा0द0	भारतीय दर्शन
40.	भा0सा0	भारतीय साहित्य
41.	म0पु0	मत्स्य पुराण
42.	मं0	मन्त्र
43.	महा0भा0	महाभारत
44.	महा0शां0प0	महाभारत शान्ति पर्व
45.	मार्क0पु0	मार्क0 पुराण
46.	मां0 उप0	माण्ड्क्योपनिषद्
47.	मु0उप	मुण्डकोपनिषद्
48.	यजु0	यतुर्वेद
49.	रा0	रामायण
50.	रा0च0मा0	रामचरितमानस
51.	लि0पु0	लिंग पुराण
52.	व0पु0	वराह पुराण
53.	वा0पु0	वामन पुराण
54.	वायु0पु0	वायु पुराण
55.	वि0पु0	विष्णु पुराण
56.	श्वे0उप0	श्वेताश्वतरोपनिषद्



57.	शां0भाव्य	शांकर भाव्य
58.	शां0प0	शान्ति पर्व
59.	शि0पु0	शिव पुराण
60.	स्क0	स्कन्द
61.	सू0पु0	सूर्य पुराण
62.	हरिव0पु0	हरिवंश पुराण

प्रथम अध्याय

1. ईश्वरीय ज्ञान
2. ईश्वर की खोज
3. ईश्वर का अस्तित्व
4. ईश्वर का स्वरूप
5. ईश्वर के अवतार
6. विश्वरूपी ईश्वर

ईश्वरीय ज्ञान

प्रायः मनुष्य केवल पदार्थ ज्ञान को ही ज्ञान मान लेता है अथवा वह अपने शरीर और उससे सम्बन्धित जानकारी को ही ज्ञान समझ लेता है । किन्तु वह परम विज्ञान अथवा परम विशिष्ट ज्ञान, जो पदार्थ, सृष्टि और जीवों की रचना करता है, जो रचनाकार का ज्ञान है,उसके सम्बन्ध में पूरी तरह अनभिज्ञ रहता है। वह जानता ही नही कि ऐसा भी कोई ज्ञान है ।

मुण्डकोपनिषद में ऐसा वर्णन किया गया है कि अपरा और परा दो प्रकार की विद्यायें हैं,जिनमें अपरा विद्या के अर्न्तगत ऋग्वेद, यर्जुवेद, सामवेद, अथर्ववेद, शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरूक्त छन्द और ज्योतिष आदि शास्त्र में आते हैं जिस विद्या से वह ईश्वर भलि भाँति जाना जाता है, वह परा विद्या है।[1] अपरा विद्या के ग्रन्थ ऋग्वेद को पढने से पता चलता है कि अग्नि सूक्त,जल सूक्त वायु सूक्त,पृथ्वी सूक्त,वनस्पति सूक्त,राज्य सूक्त आदि अनेक सूक्तों से भौतिक विद्याओं का वर्णन है । अथर्ववेद में भी अनेक सूक्तों द्वारा रोग चिकित्सा की विद्या राज्य शासन की विद्यायें बताई गई है । यर्जुवेद में नाना प्रकार के यज्ञों का वर्णन है । राजसूय यज्ञ में अच्छा राजा निर्वाचन, अश्वमेघ से साम्राज्य संव्रर्धन तथा वाजपेय से खान–पान आदि की वृद्धि की जाती थी। तात्पर्य यह है कि सभी वेदों में मनुष्य के अभ्युदय की योजनायें निहित हैं। परा विद्या इस विश्वव्यापिनी

---

1. तत्रापरा ऋग्वेदों यजुर्वेदः सामवेदोऽयर्ववेदः शिक्षा कल्पोव्याकरणः निरूक्तं छनदों ज्योतिषमिति । अथ परा यया तदक्षरमधिनाम्यते । (मु0उप0मं0 5)

आदिभूता शक्ति का दर्शन कराती हैं ।[1] ब्रह्म विद्या ही सब विद्याओं का आधार कही गई है । गीता में भगवान कृष्ण ने अध्यात्म विद्या (परा विद्या) को श्रेष्ठ माना है ।[2]

ईशोपनिषद में भी विद्या और अविद्या का उल्लेख मिलता है । विद्या और अविधा (परा और अपरा विद्या) दोनों में जो साधक सिद्वि प्राप्त कर लेते है वे अविद्या (जगत के ज्ञान) द्वारा मृत्यु को जीतकर विद्या(ब्रहम) द्वारा जन्म–मरण से मुक्ति का फल प्राप्त करते है।[3]

इस तथ्य को विश्व की प्रथम रचना वेदों पुराणों और उपनिषदों में अत्यंत सूक्ष्मता से अनुभव किया गया है । उसमें सृष्टि एवं जीव के "जीवन" "प्राण" "आत्मा" के ज्ञान को महत्व पूर्ण स्थान दिया गया है । उनमें सृष्टि के स्वामी, रचनाकार, निर्माता, नियामक, नियन्ता और संचालक व उसकी संचालन प्रक्रिया का ज्ञान है। यह किसी भी धर्म, जाति, वर्ण, सम्प्रदाय आदि आदि से कोई सम्बन्ध नही रखता । यह विशुद्व ज्ञान है । यह तो भारतवर्ष की अनमोल धरोहर है।

यह ज्ञान का सागर "ईश्वरीय ज्ञान" तो सर्वमान्य ज्ञान है और सबके लिये है यह तो भारत का विशिष्ट ज्ञान है । इसे तो अवश्यमेव अध्ययन, अध्यापन एवं शोध का विषय बनाकर विश्व के सामने रखना ही चाहिये,क्योंकि कही भी अन्यत्र यह ज्ञान श्रृंखलाबद्वरूप में पाया ही नही जाता । सत्य यही है ईश्वरीय ज्ञान ही

---

1. ब्रह्मविद्यां सर्वविद्याप्रतिष्ठाम् । (मु0उप0म0 1)
2. अध्यात्मविद्या विद्यानां ।(भ0गी0अ0 10)
3. विद्यां चाविद्यां च यस्तद्वेदो भयं सह ।
   अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययामृतमश्नुते ।। (ई0उप0म0 11)

मूल ज्ञान है । धर्मो का धर्म है । सब रहस्यों को अनावरण करने वाला है । समस्त ज्ञान का स्रोत हैं । यह ज्ञान .मूलतः चारों वेद,पुराण, उपनिषद, षटदर्शन और राामायण व गीता में सुस्पष्ट है । इनके साथ ही असंख्य ग्रन्थ है, जो ईश्वरीय ज्ञान क़ो विभिन्न दृष्टिकोणों से अनेक स्तरों पर प्रकट करते हैं । ये सब मिलकर अलौकिक, दिव्य, अदभूत और आश्चर्यजनक ज्ञान का भंडार बन जाते हैं। यह ईश्वरीय ज्ञान ही भारत की मूल आत्मा है। उसकी संस्कृति की अनमोल धरोहर है।

भारत में ईश्वरीय ज्ञान की अनन्त निधि उपलब्ध है। यही इसकी मूल मौलिक, अद्भुत और अमूल्य धरोहर है । यह ज्ञान मानव के सृष्टि में उदय होते ही उत्पन्न हुआ था । अतः अनादि है। सभ्यता के विकास के साथ ईश्वरीय ज्ञान की धारा का भी सम्यक प्रवाह प्रवाहित होता रहा और वैदिक काल में, जिसे माननीय बात गंगाधर ने कम से कम दस हजार वर्ष पुराना और पूज्य महात्मा गॉधी जी ने एक लाख वर्ष प्राचीन घोषित किया है यह ज्ञान विश्व में प्रथम बार ऋग्वेद में प्रकट हुआ । गॉधी जी ने अपने शबदों में प्रार्थना प्रवचन में कहा था—

"यह धर्म बहुत बडा धर्म है, बहुत पुराना धर्म है लोकमान्य तिलक ने इसे दस हजार वर्ष पुराना धर्म बताया है, पर मेरी समझ से लाख वर्ष से भी ज्यादा पुराना है यह अनादि है । वेद में जो बाते बताई गई हैं,वे धर्म का निचोड है और धर्म प्राणी के साथ पैदा हुआ है । इसलिये वेद अनादि है ।[1]

---

1. द्रव्टव्य (प्रा0प्र0 24 पृ0)

ईश्वर की खोज

मानव के जीवन का मुख्य उद्देश्य हर्ष, सुख, सुविधाएँ, शान्ति ज्ञान, आनन्द और अमर जीवन की प्राप्ति है । वह इस लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए जड़ निर्जीव पदार्थो से निर्मित अचेतन सृष्टि के अणु–परमाणुओं तक का अध्ययन, खोज और अनुसंधान करके प्रकृति में निहित समस्त रहस्यों को अनावरण करके उसे पाने में जी–जान से लगा हुआ है, । अपने उद्देश्य की प्राप्ति के लिए हजारों शैक्षिक संस्थान, लाखों विद्वान, अरबों–खरबों रूप्यों को प्रतिवर्ष खर्च करके वह अपने जीवन को ही दाँव पर लगाए हुए है ।

विड़म्बना यह है कि वह अपने इस हर्ष, सुख, शान्ति, प्रसन्नता, आनन्द, पूर्ण ज्ञान और अमर जीवन प्राप्त करने का अपना उद्देश्य कभी प्राप्त नहीं कर सका । हाँ कुछ सुविधाओं के अम्बार उसने अवश्य लगा लिए हैं । वे भी मानवता के एक प्रतिशत व्यक्तियों को उपलब्ध नहीं है। फिर भी वह अपने अज्ञान पर प्रसन्न होता हुआ एक भूले–भटके मुसाफिर की तरह अपनी मंजिल से कहीं दूर–दूर ही रह गया है

इसके विपरीत रोग, शोक, दुःख, तनाव, मारकाट–लूटमार, छल–फरेब, धोखाधड़ी, धन व नारी का अपहरण, बलात्कार, हत्या, आंतक, युद्ध और विनाश की ज्वाला में सामान्य मानव को घोर नारकीय लोक में झोंक गया है। आज संसार में उसने जितना स्वार्थ, आपा–धापी, मतलब–परस्ती, अहंकार भरा घमण्ड़ी स्तर का मार्ग अपना लिया है,उससे उनका मूल उद्देश्य जल कर राख हो गया है ।

वह तो अपना उद्देश्य केवल अनन्त आनन्दमयी चैतन्य सत्ता अर्थात सच्चिदानन्द परमेश्वर में ही प्राप्त कर सकता था । यह ही तो सब सुखों का भण्ड़ार समस्त गुणों का आगार और अमृतमय ज्ञान की खान व अमूल्य स्रोत है ।

वह ईश्वरीय मार्ग आत्म विज्ञान, प्रज्ञान, पराज्ञान और आत्म ज्ञान का मार्ग था । इसको तो कभी उसने जाना ही नहीं कि वह कहाँ से प्रारम्भ होता है और कहाँ खत्म होतो है । उसने किसी जानकार से पूछा भी नहीं कि उसका ठौर–ठिकाना या अता–पता क्या है..........कहाँ है । उसे पहुँचना कहाँ है । इसी के लिए तो उसे ईश्वर की खोज करनी थी, लग गया वह जड़ पदार्थ की खोज में । उसे अपना उद्देश्य कैसे प्राप्त होता ।

इस महान उद्देश्य की प्राप्ति तो सत्यज्ञान, शुद्ध पवित्र हृदय, विवेकमय बुद्धि एवं अहंशून्यता से होती है । इनसे सत्य, अहिंसा, अस्तेय, अपरिग्रह, शोच, संतोष, प्रेम, उदारता, विनम्रता, सहिष्णुता, समानता, न्याय, दया, क्षमा, सहयोग, सेवा और त्याग के सुन्दर सुमन खिलते हैं । उनकी मनोहारी शीतल और शाँति भरी दिव्य सुगन्ध की पावन फुहारों ने अन्तःकरण भीगकर सुरभित हो जाता है । सदा सर्वदा के लिए आनन्दमय हो जाता है और जीवन को अमृतत्व प्राप्त होता है। वह ही है आत्मज्ञान या ईश्वर दर्शन है ।

मानव के समस्त रोग, शोक, कष्ट, दुःख, भय, तनाव, आंतक और अशान्ति केवल और केवल आत्मज्ञान अथवा ईश्वर दर्शन के पश्चात् ही दूर हो सकती हैं। जीवन चक्र अर्थात जन्म और मृत्यु से छुटकारा मिल सकता है । इसका और कोई विकल्प है ही नहीं । यह अपरिहार्य है ।

ईश्वर का अस्तित्व

ईश्वरीय ज्ञान और ईश्वर की खोज के प्रसंग में यह जिज्ञासा उत्पन्न होती है कि जिस ईश्वरीय ज्ञान और ईश्वर की खोज की बात कही जा रही है वह ईश्वर की सत्ता है भी अथवा नहीं। इस सम्बन्ध मे भारतीय शास्त्रों में दो प्रकार की विचारधारा–आस्तिक और नास्तिक पाई जाती है, इसके प्रत्युत्तर में आदि गुरू शंकराचार्य के ब्रहम्सूत्र शांकर भाष्य में कहे गये तर्कों को प्रस्तुत किया जा सकता है, जिसमें उन्होंने कहा है कि जो कोई भी ईश्वर की सत्ता का खण्ड़न करता है, वह ऐसा कैसे भूल जाता है क्योंकि अपनी आत्म सत्ता के बिना वह बोल नहीं सकता है, चल नहीं सकता है और देख नहीं सकता है । इसलिए जो कोई भी उसका निराकरण करता है, यह उसका ही स्वरूप है ।[1] प्रत्येक प्राणी को अपनी सत्ता का आभास रहता है। एक मूर्ख से मूर्ख व्यक्ति भी ऐसा नहीं समझता कि मैं नहीं हूँ ।[2]

अतः ईश्वर के संबंध में इतना तो विश्वासपूर्वक ही कहा जा सकता है कि ईश्वर है । इसकी पुष्टि सहस्त्रों ॠषि, महर्षि, योगी, अनुसन्धानकर्ता, संत और भक्तों द्वारा अपने–अपने अनुभव से की गई है । यह निश्चित घोषणा है कि ईश्वर है । इन खोजकर्ताओं ने न केवल ईश्वर के अस्तित्व को अनुभूत किया है, अपितु जहाँ तक शब्द और वाणी बता सकते हैं,उसके दर्शन की अनुभूति का

---

1. य एव हि निराकर्ता तदेव तस्य स्वरूप ।
(ब्र0सू0शा0भा0 1/1/1)
2. सर्वस्य आत्मप्रत्येति न नाहमेति ।
(ब्र0सू0शा0भा0 1/1/1)

अनेकों प्रकार से विस्तृत रूप से वर्णन भी किया है । जहाँ एक ओर उन्होंने 'उसे' वर्णन से परे माना है, वहीं उन अवस्थाओं का भी स्पष्ट विवेचन किया है,जिससे ईश्वर दर्शन होता है ।

इन अनुसन्धानकर्ताओं की स्वीकृति अथवा साक्ष्य को सरलता से नकारा नहीं जा सकता, क्योंकि वे निष्काम अनासक्त, वीतराग और सत्यनिष्ठ पुरूष थे । उन्हें झूठी साक्षी या गवाही देने की कभी कोई आवश्यकता नहीं थी । उन्हें कुछ कामना होने का तो प्रश्न ही नहीं उठता । उनका तो समस्त जीवन जीवमात्र के कल्याण के लिए समर्पित था और वे तिल–तिल कर जगत् कल्याण के लिए आत्माहुति देकर चले गये । फिर भी बुद्धि कहती है कि प्रमाण चाहिए । केवल महात्माओं के द्वारा बोधमम्यता के आधार पर साक्षी दे देने से पूर्ण विश्वास होना सम्भव नहीं है । मन मान तो लेगा, पर सन्देह करता ही रहेगा ।

प्रश्न यह भी है कि सृष्टि और मानव के अपने अस्तित्व का क्या प्रमाण है? वह कब, कहाँ, कैसे और किसके द्वारा अस्तित्व में आया? मानव के अस्तित्व का मूल क्या है?

यह तो निश्चित् है कि मानव ने जब जन्म लिया तब सृष्टि विद्यमान थी। मानव का जन्म सृष्टि में हुआ । उसने सृष्टि को या अपने को जन्म नहीं दिया । मानव के प्रादुर्भाव के पूर्व सृष्टि थी, और सृष्टि की रचना से पूर्व 'कोई या कुछ' अस्तित्व में था, जिसके द्वारा सृष्टि की रचना हुई। वह 'अस्तित्व' सृष्टि रचना से पूर्व विद्यमान था ।

यदि हम यह ही मानें कि सब जड़ या शून्य था और जड़ अथवा शून्य से सृष्टि स्वयमेव उत्पन्न हो गई, तो विज्ञान के नियमों के पूर्ण प्रतिकूल होगा। कोई भी जड़ पदार्थ अपने आपमें कभी भी कोई गति नहीं कर सकता, जब तक कि बाहर से बल न लगाया जाए ।

अर्थात 'जो कुछ' भी जड़ पदार्थ था, उसे गतिमाान होने एवं क्रिया प्रतिक्रिया कर सृष्टि रचना करने के लिए अन्य 'शक्ति' की उपस्थिति अनिवार्य थी। जड़ स्वयमेव गतिमान नहीं हो सकता । चैतन्य ही गति कर सकता है। इससे इतना अवश्य प्रमाणित होता है कि जो कुछ भी हो वह ''शक्ति या बल'' कहीं बाहर से आया है अर्थात उसको गतिमान सृष्टि की रचना करनेवाला कोई स्वयंभू चैतन्य रचनाकार अवश्य था, जिसने या जिसके द्वारा सृष्टि एवं यह प्रश्न पूछने वाला मानव अस्तित्व में आया । चैतन्य ही चैतन्य को उत्पन्न कर सकता है और चैतन्य ही जड़ की भी रचना कर सकता है और चैतन्य ''जड़ चेतन'' प्रकृति को बना सकता है। जड़ से जड़ की उत्पत्ति नही हो सकती । जड़ से चैतन्य उत्पन्न नहीं हो सकता । यदि चैतन्य का अस्तित्व स्वीकार नहीं किया जायेगा । तो प्रकृति ,सृष्टि और मानव आदि कोई भी रचना अस्तित्व में नहीं आ सकते । अतः एक चैतन्य सत्ता मानव और सृष्टि से पूर्व स्वयं सिद्व रूप से विराजमान थी, यही ''ईश्वर'' कही गई । यह स्वयं सिद्व प्रमाण है ।

स्वयं सिद्वता को बाहरी प्रमाण से सिद्व करने का कोई अर्थ ही नही है,क्योंकि जिससे सब कुछ प्रमाणित या अस्तित्व में आता है,उसकी रचना या कृति

तो स्वयं प्रमाण रूप में उपलब्ध है ही। अपने रचनाकार के अस्तितव का स्वयं सिद्व प्रमाण उसकी रचना ही प्रत्यक्ष प्रमाण है ।

वैज्ञानिक नियमानुसार भी जिसका अभाव है, वह अस्तित्व में नही आ सकता । यदि चैतन्य न होता, तो जगत में चैतन्यता नही आ सकती थी । चैतन्य अस्तित्व का स्वयं सिद्व प्रमाण उपलब्ध है तब अन्य प्रमाण की क्या आवश्यकता है गीता में भी कहा है जिसका अभाव हो वह अस्तित्व में नही आ सकता है ।[1]

सृष्टि और मानव स्वयं रचनायें हैं, रचनाकार नही । कृति हैं–कर्ता नही। कर्ता और रचनाकार ही अपनी कृति और रचना को जान सकता है। स्वयं कृति या रचना नही । हॉ यदि कृति मानव या रचना स्वयं चैतन्य का अशं हो, तो उस पूर्ण चैतन्य से योग कर कृति स्वयं अपने को जान सकती है।

अनुसंधानकर्ताओं ने इसी चैतन्य अस्तित्व को ईश्वर स्वीकार किया है। वह अस्तित्व क्या था या है? उसके लिये मूल परिभाषा इतनी ही हो सकती है कि:–'' वह जो था या है वह–वही है और वह स्वयं ही अपने को जानता है कि वह क्या है''

ईश्वर के सम्बन्ध पूर्व अनुसंधानों एवं अनुभवों के आधार पर निम्न कम में उसकी अवधारणा को आधार बनाया जा सकता है, जिन्हें मानकर हम आगे अनुसंधान कर सकते है।

---

1. नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः ।

(भ0गी0अ0 2)

1. ''ईश्वर है । वह जैसा या जो कुछ है वह वैसा ही है''।

2. ''ईश्वर शाश्वत सनाातन, आदि और अनन्त, अस्तित्व है'' यह कल्पनातीत है । अविज्ञात है।''

3. ''ईश्वर का यह अस्तित्व अनन्त, असीम आदि शक्तिरूप है'' यह भी कल्पनातीत और वर्णनातीत है किन्तु बोधगम्य व पूर्ण अव्यक्त है ।

4. यह अनन्त या परम शक्ति सच्चिदानन्द रूवरूप है अर्थात ईश्वर अनन्त चित् + अनन्त आनन्द है ।

दूसरे शब्दों में ईश्वर (Existance Infinite + Knowledge Infinite + Bliss Infinite) अर्थात सच्चिदानन्द है । ईश्वर का यही सच्चिदानन्द स्वरूप बोधगम्य एवं अनुभवगम्य है । मानव इसी ईश्वर का साक्षात्कार या दर्शन करता है। यही ईश्वर, अल्लाह, गॉड ,वाहे गुरू आदि नामों से पुकारा जाता है।

यह अनन्त सत्ता है, अनन्त ज्ञान या चैतन्य है और अनन्त आनन्द है । समस्त योगियों और भक्तों ने ईश्वर जैसे स्वरूप का अनुभव किया है । इसी बोध को परम विश्राम और परम शांति, परम ज्ञान और अनन्त सत्य कहा जाता है ।

जिस प्रकार हम यह मान लेते हैं कि एक टेढ़ी–मेढ़ी आकृति ''अ'' है और इसे ''अ'' मानकर आगे बढ़ते ही जाते है तो विद्वान बन जाते हैं । यदि हम यह कहने लगे कि यह सिद्ध करों कि यह ''अ'' है तो कोई भी तर्क इसे ''अ'' सिद्ध नही कर सकता। शिक्षक के कहने पर मान लेना पड़ता है कि यह ''अ'' है। यह ''क'' है और यह ''ख'' है आदि आदि । तत्पश्चात इस स्वयं सिद्ध मान्यता के आधार पर ज्ञान का भण्डार एकत्र कर सकते हैं।इसी प्रकार पहले इन स्वयं सिद्ध

मान्यताओं को मान लेना पढेगा । तब ही हम इन अवधारणाओं को अनुभूत कर सकेंगे । ये मान्यतायें हजारों अनुसंधान कर्ताओं की कम से कम इस हजार वर्ष की निरन्तर खोज का परिणाम है और हमारे लिये खोज करने का आधार है।

अतः मानव इस परम चैतन्यमयी सत्ता "ईश्वर" का दर्शन कर सकता है। यह सहज अर्थात साथ जन्मा है । साथ रहता है और प्रत्येक जीवन को गतिमान् करने वाला परम चैतन्य है ।

ईश्वर का स्वरूप

ईश्वर अनन्त–अनन्त स्वतन्त्र स्वयंभू अनादि शाश्वत, सनातन, सर्वोपरि, सर्वोत्तम, सर्वश्रेष्ठ, सर्व–शक्तिमान चैतन्य सत्ता है । एक परम चैतन्य एक अनन्त सत, अनन्त चित्, और अनन्त आनन्द अर्थात सत्+चित्+आनन्द है । वह इसलिये सच्चिदानन्द है । यही ईश्वर की प्रथम अभिव्यक्त अवस्था है ।

ईश्वर अनादि, अजन्मा, अकेला, अद्वितीय, अनुपम और अनश्वर है। ईश्वर सर्वांग सुन्दर है, सर्व शोभामय, सर्वश्रेष्ठ, सर्वोत्तम, सर्वोपर्रि,, सार्वभौम और सम्पूर्ण है। वह अविभाज्य, अखण्डनीय, अविगत, अगोचर, अजस्र है। ईश्वर सर्वकल्याणकारी सर्व हितकारी, सर्व सुखदायक और सर्वआनन्दमय है । ईश्वर महातेजस्वी, महान प्रकाशमान महान् तेजोमय, महान कान्तिमान, महा प्रभावन् और महा जाज्वल्यमान है ।

ईश्वर दिव्यातिदिव्य, अनुपमेंय, अलौकिक, अशरीरी, अदभूत, अनोखा आश्चर्यों का आश्चय्र, अकल्पनीय और अचिन्तनीय मन, वाणी और बुद्धि से परे है। ईश्वर ज्योतियों की ज्योति, प्राणों, का प्राण, जीवात्मा का जीवन ओर आत्मा का

परमात्मा है । ईश्वर सूक्ष्म से सूक्ष्म और महान से महान है ईश्वर दूर से दूर ओर समीप से समीप है,[1] ईश्वर सर्व प्रेरक, सर्वजनक, सर्व संचालक, सर्व नियन्ता, सर्व नियामक और सर्व कर्ता है ।

वह चिरस्थायी, परमशाँत , अपरिवर्तनीय अविचल है । ईश्वर पूर्णातिपूर्ण है। वह पूर्ण है, अखण्ड है , एकसार है, तत्वातीत है । परमाणु से रहित केवल एक है। जो अव्यक्त, अजर अचिन्त्य, अज, अव्यक्त, अनिर्देश्य, अरूप पाणिपादादि शून्य, व्यापक सर्वगत, नित्य, भूतों का आदिकरण, स्वयं कारणहीन तथा जिससे सम्पूर्ण संसार उत्पन्न हुआ है ।[2]

ईश्वर समस्त सृष्टियों को जन्म देता है, कोटियों ब्रह्माण्डों की रचना करता है और असंख्या तारागणों, सूर्यों नक्षत्रों, ग्रहों, उपग्रहों, उल्काओं, धूकेतुओं और समस्त आकाश गंगाओं को अपनी प्रकृति की शक्ति से सृजित करता हे । वह अन्नत ब्रह्माण्डों को ऐसे ही धारण करता है, जैसे एक माला में सूत्र मोतियों को संजोये रहता हे । समस्त भूत उसी में रहते हैं । वह सबमे व्याप्त है तथा वे ही सब के रचयिता है, रक्षक है ।[3] सबका अस्तित्व उसी के अस्तित्व के कारण है। वह स्वयं मूल अस्तित्व है ।

---

1. अणोरणीयान् महतो महीयानात्मा गुहायां निहितोऽस्यजन्तोः ।
(श्वेत० उप० 06/9)

2. यत्तदव्यक्तमजरमचिन्त्यमजमव्ययम्
अनिर्देश्यमरूपं च घाणिपादद्यसंयुतम ।।
(वि०पु० अं, 6 अ० 5)

3. भूतेषु वसते सोऽन्तर्वसन्त्यत्र च तानि यत् ।
धाता विधाता जगतां वासुदेवस्ततः प्रभु ।।
(वि०पु० अं, 6 अ० 5)

ईश्वर का अनन्त स्वरूप

अरूप का रूप कैसा? निराकार का आकार क्या ? अव्यक्त होकर व्यक्त किस प्रकार ? निरंजन होकर स्वरूप की कल्पना क्यों ?

सब कुछ विरोधाभास् सा लगता है । किन्तु यह भी सत्य है कि अनन्त को बन्धन क्यों ? असीम की सीमा क्या ? पूर्ण समर्थ की अशक्तता कैसी? जब ईश्वर अनन्त है तो उस पर वह बन्धन लगाना कि वह "ऐसा है" ऐसा नहीं हो सकता है? अथवा वह निराकार, साकार कैसे हो सकता है । अनन्त को किसी नियम की सीमा में कैद करने को दुराग्रह क्यों ?

यदि ईश्वर अनन्त है, तो वह अनन्त प्रकार से जैसे चाहे व्यक्त हो सकता है, नहीं चाहे तो नहीं को सकता । तुच्छातितुच्छ मानव यह घोषणा करे कि ईश्वर ऐसा ही है ओर इससे आगे नहीं या और कुछ नहीं हो सकता , तो उसका घोर अज्ञान ही कहा जाएगा ।

जीव ईश्वर को जितना अपनी बुद्धि की कल्पना या बोध के स्तर से समझ पाते हैं उसको उतना ही मानकर अन्तिम रूप दे देते हैं जीव यह भूल जाता है कि अनन्त को अनन्त प्रकार से वर्णित किये जाने के पश्चात् भी अनन्त कहने को शेष रह जाएगा, अनन्त तो अनन्त है । उस पर मानवबुद्धि का अंकुश क्यों?

वह अनन्त है। वह ऐसा भी है, वेसा भी है और जो हम नहीं जान पाये, उस तरह का भी है। प्रायः जीव ईश्वर को एकांगी रूप में विश्वास कर लेते है और वैसा ही मान लेते हैं, वैसा जान लेते और वैसा ही कह देते है । यह दर्शन

तो अवश्य है, किन्तु एक स्तरीय व सापेक्ष्य दर्शन है । सर्वांग दर्शन नहीं है संर्वांग दर्शन में तो सब कुछ सम्मिलित होता है ।

संसार के उदाहरण यद्यपि ईश्वर की सर्वांगता करने के लिए लागू नहीं हो पाते । यह सत्य है किन्तु यह संसार भी तो ईश्वर से पृथक नहीं है । इसके ही उदाहरणों से एक परिकल्पना अवश्य की जा सकती है । एक आधार अवश्य बनाया जा सकता है । उसके स्वरूप की एक रूपरेखा अवश्य खींची जा सकती है । कुछ न कुछ समझा अवश्य जा सकता है । इतना अवश्य कहा जा सकता है कि यह आवश्यक नहीं की वही अन्तिम हो ।

उदाहरणतयः आम को ही लें । आम तो एक फल के लिए सामान्यता प्रयुक्त होता है, किन्तु क्या आम केवल फल को ही कहेंगे ? यह तो एकांगी स्वरूप है । वास्तव में आम का पूरा विशाल वृक्ष भी आम ही तो है । क्या दूर–दूर तक फैली हुई मिट्टी के अन्दर उसकी जड़ें आम नहीं है? वह भी आम है, डाल भी आम है, टहनी भी आम है, पत्ते भी आम, बौर भी आम है, उनका गूदा, रस, गुठली, स्वाद और सुगन्ध भी आम है । फिर इन सबसे आगे जिससे यह आम अस्तित्व में आया वह मूल बीज भी आम है । उसकी अवस्था और उसका स्रोत भी आम है ।

यह सब कुछ मिलाकर आम है । यही आम का सर्वांग दर्शन या ज्ञान है । जब किसी वस्तु को पूर्ण रूपेण जाना या समझा लिया जाए तब ही उसका यथार्थ ज्ञान होता है ।

गुलाब के पुष्प को लीजिए । उसकी जडें भी गुलाब है, तना भी गुलाब है, टहनी भी गुलाब है, पत्ते भी गुलाब है, उसकी कली भी गुलाब है, पंखुडियॉ भी गुलाब है, कॉंटें भी गुलाब है, गुलाब का फूल भी गुलाब है । उसका मनमोहक रंग और कोमलता भी और उनकी सुगन्ध भी गुलाब है । अर्थात गुलाब केवल गुलाब का फूल भाग ही नहीं है । केवल उसे ही गुलाब कहना, मानना अधूरा ज्ञान है । एकांगी दर्शन है । यह तो सब कुछ मिलाकर ही गुलाब है । वह एक अंग में भी गुलाब है और सर्वांग में भी गुलाब है । ऐसी दृष्टि पाने पर हम उसका सच्चा स्वरूप देखते हैं । जान पाते हैं ।

एक घर को ही ले उनकी ईटें, पत्थर , रेत, बजरी, रोड़ी, कंकडी भी घर है। उसका सीमेंन्ट , चूना भी घर है । उसकी चौखटें, खिड़कियाँ ,किवाड़ें , बुनियाद, दीवारें, छतें, फर्श और प्लास्टर भी मकान है । रंग रोगन, नल , विद्युत और सफेदी आदि भी मकान है । उसमें लगा फर्नीचर समान, बर्तन, वस्त्र, गद्दे पंलग आदि सब घर ही तो है । कौन सी चीज है जो घर नहीं है । उस घर में रहने वाले पति--पत्नी बच्चे, माता--पिता, भाई--बहन और अन्य सब सम्बन्धी आदि भी सब मिलाकर घर बनाते है । यह सब कुछ मिलाकर सर्वाग घर है । यह घर की पूर्ण परिकल्पना है । एकांगी ज्ञान अधूरा ही रहता है और अज्ञान का द्योतक है । खाली मकान को घर मानना अधूरा ज्ञान है ।

ऐसे ही अनेकों उदाहरणों को देखकर हम यह समझ सकते हैं कि समग्रज्ञान, सर्वांग ज्ञान, पूर्ण ज्ञान ओर बात है तथा उनके एक पक्ष, एक अंग, एक अंश ओर एक रूप का ज्ञान भिन्न बात है । ज्ञान दोनों ही आवश्यक है ।

हमें प्रत्येक अंश का भी ज्ञान होना चाहिए, साथ ही उसके पूर्णरूप का भी तब ही ज्ञान सार्थक होता है । अंश का ज्ञान भी यद्यपि उसी का ज्ञान है । किन्तु एक पक्षीय है । पूर्ण का ज्ञान होने पर वह निष्पेक्ष और सत्य होता है ।

यदि हमें ईश्वर के कथ्य स्वरूप की परिकल्पना करनी है या कोई अवधारणा मन में बनानी है, कोई मान्यता माननी है तो हमें उसे भी समग्र एवं अंश दानों रूपों को देखना, जानना, समझना होगा अन्यथा ज्ञान अधूरा, सापेक्ष्य एकांगी और केवल अपने मत के अनुसार होगा । ईश्वर मत, मतान्तरों, वादों, सिद्धान्तों और विचार–धारा के अनुरूप में प्रतीत होता है । हम सत्य से बहुत दूर–दूर चले जाऐगे । ईश्वर जो है, हम उसे कभी न जान सकेंगे । हमें उसके एक अंश मात्र का ही ज्ञान होगा ।

यह समस्त विस्तार वाली सृष्टि , इसके कोटियों ब्रह्माण्ड असंख्या तारागण, करोड़ों–करोड़ों सूर्य और अरबों–अरबों ग्रह नक्षत्र आदि–आदि समग्र जगत ईश्वर है ।[1] वह अनन्त व्यक्त और अव्यक्त से परे भी है । वह सगुण भी है, साकार भी है और निर्गुण व निराकार भी है । वह इन दोनों से परे भी है । वह स्थूल रूप में इस जगत् में व्याप्त है ।[2]

---

1. त्वं वेदास्त्वं तदङ् गानि त्वं यज्ञपुरूषों हरे ।
   सूर्यादयों ग्रहास्तारा नक्षत्राण्यरिवलं जगत ।।
   (वि0पु0अं0–1, अं0–4)
2. जयाखिलज्ञानमय जय स्थूलमयाव्यय ।
   जयाऽनन्त जयाव्यक्त जय व्यक्तमय प्रभो ।।
   (वि0पु0अं0–1, अं0–4)

ईश्वर ही परम तत्व है, वह नित्य आनन्दस्वरूप और प्रकाशपुंज है । ईश्वर के कारण ही सृष्टि की अभिव्यक्ति है । उसके कारण सब कुछ होता है ।[1] किन्तु वह स्वयं निर्लिप्त रहता है । वह द्वेत, अद्वैत, द्वैताद्वैत, शुद्धाद्वैत, अद्वैताद्वैत, ओर द्वैत–अद्वैत की समस्त परिधियों से परे है । क्योंकि ये सब मानवीय बौद्धिक परिकल्पनाएँ है जो उसने अपनी बुद्धि की सीमा के अनुसार अनुभव के स्तर पर अनुभूत किये है । वही सत् है वही चित् है, वही आनन्द है और वही सच्चिदानन्द भी है ।[2]

वह चलता है और नहीं भी चलता है वह दूर भी है और निकट भी है । वह भीतर भी है ओर सबके बाहर भी है ।[3] गीता में भी कहा गया कि वह समस्त चराचर जगत के भीतर भी है । और बाहर भी है । वह दूर भी है और निकट भी है, परन्तु सूक्ष्मतम होने से जान नहीं पड़ता है ।[4]

---

1. परात्परतरं तत्त्वं परं ब्रह्मैमव्ययम ।
   नित्यानन्दं स्वयंज्योतिरक्षरं तमसः परम्
   (कू0पु0अ0–1)
2. ऐश्वर्यं तस्यत्रित्यं विभूतिरिति गीयते ।
   कार्य जगदथाव्यक्तं कारणं शुद्धमक्षरम् ।।
   (कू0पु0अ01)
3. तदेजति तन्नैजति तद्दूरे तद्वन्तिके ।
   तदन्तरस्य सर्वस्य तदू सर्वस्या वाह्यतः ।।
   – ई0उप0मं05
4. बहिरन्तश्च भूतानामचरं चरमेंव च ।
   सूक्ष्मत्वात्तदविज्ञेयं दूरस्थं चान्तिके च तत् ।
   – (भ0गी0अ013)

इस अव्यक्त (प्रकृति) से भी बढ़कर परम पुरूष है जो व्यापक (सर्व साक्षी) और आकार रहित है ।[1] ईशोपनिषद् में भी कहा गया है कि वह सभी और व्यापक है, स्थूल और सूक्ष्म शरीर से रहित है । क्षतरहित, सर्वथा स्वस्थ और पुष्ट है । उसमें किसी पाप को लेश भी नहीं । वह ज्ञान स्वरूप , अत्यन्त विचारशील, सर्वतः रक्षा करने वाला, स्वयंभू, ज्यों का त्यों सदैव सबका न्याय करने वाला है ।[2] गीता में भी उसी बात की पुष्टि इस प्रकार की गई है कि ईश्वर समस्त इन्द्रियों को प्रकाशित करता है और सब प्रकार के शरीर और इन्द्रियों से रहित है । सब प्रकार का पालन–पोषण करता है और अनासक्त है । गुणों का भोक्ता है ओर निर्गुण है ।[3] अर्जुन ने श्री कृष्ण ईश्वर की स्तुति करते हुए कहा– कि तुम सबके आदिदेव हो, सबसे अधिक प्राचीन हो और इस विश्व के आधार हो तुम ही ज्ञाता हो ओर तुम ही ज्ञेय पदार्थ हो। तुम्हारा पद ओर स्थान सबसे परे और सबसे ऊँचा है, तुम अनन्त स्वरूप हो ओर समस्त विश्व में व्यापक हो, [4] तुम सर्वत्र हो। अतः तुम आगे से, पीछे से ओर इधर--उधर से तथा ऊपर नीचे सब ओर से

---

1. अव्यक्तात्तु परः पुरूषौ व्यापकोऽलिंग एव च ।
   – (0क0उप02–3–8)
2. स पर्यगाच्छक्रमकायमवृणमस्नाचिरं शुद्धमपापविद्धम्,
   कविर्मनीषीः परिभूः स्वयंम्भूः याथातथ्यतोऽर्थान व्यदधाच्छाश्वतीभ्यःसमाभ्यः
   – (ई0उप0मं0 8)
3. सर्वेन्द्रिय गुणाभासं सर्वेन्द्रियविवर्जितम्
   असक्तं सर्वभृच्चैव निर्गुणं गुणभोक्तृ च ।।
   (भ0गी0अ013 श्लोक 14)
4. त्वमादिदेवः पुरूषः पुराण स्त्वमस्य विश्वस्य पर निधानम्।
   वेतादसि वेद्यं च परं च धाम त्वया ततं विश्वमनन्त रूप ।।
   – (भ0गी0अ013 श्लोक 14)

नमस्कार करता हूँ । तुम्हारा बल, विक्रम और वीर्य्य अपरिमित है और सब में व्यापक रूप से जो कुछ दिखाई पड़ता है वह सब तुम ही हो [1]

अग्नि पुराण में भी इसी प्रकार कहा गया है कि वह जो सर्वत्र व्यापक है ब्रह्म है, जिससे सबकी उत्पत्ति हुई है, जो सर्वस्वरूप है तथा यह सब कुछ जिसका स्स्थान (आकार विशेष) , जो इन्द्रियों से ग्राह्य नही हैं, जिसका किसी नाम आदि के द्वारा निर्देश नहीं किया जा सकता, जो सुप्रतिष्ठित एवं सबके परे हे, उस परापर ईश्वर के रूप में साक्षात् भगवान विष्णु ही सबके हृदय में विराजमान है । कोई विष्णु रूप में, कोई शिवरूप में , कोई ब्रह्मा रूप में ओर कोई ईश्वर के रूप में, कोई इन्द्र आदि नामों से उन्हें पाना चाहते हैं । मनीषी लोग ब्रह्मा से लेकर तृणपर्यन्त समस्त जगत को विष्णु का ही स्वरूप कहते हैं ।[2]

इस संसार की सृष्टि ईश्वर से हुई है । वह सभी के आत्मरूप और परम अणु रूप हैं। वह ईश्वर ही सब कुछ ओर सूक्ष्म से भी सूक्ष्म और महान से भी महान है ।[3] कठोपनिषद में भी इसी कथन की समानता मिलती है । कि वह

---

1. नमः पुरस्तादथ पृष्ठते नमौऽस्तु से सर्वत्र एव सर्व ।
अनन्तवीर्यामित विक्रमस्त्वं सर्व समाप्नोषि ततोऽसि सर्वा :।।
— (भ0गी0अ011, श्लोक 40)

2. यत्तद्रब्रह्म यतःसर्व यत्सर्व तस्य संस्थितम् ।।
अग्राह्यक मनिर्देश्यं सुप्रतिष्ठं च यत्परम। परापरस्वरूपेण विष्णुः सर्वह्यदिस्थितः ।।
यज्ञेशं यज्ञपुरूषं केचिदिच्छन्ति तत्परमा केचिद्विष्णुं हरं केचित केचिदबह्माणमीश्ररम ।
इन्द्रादिनामभिः केचित्सूर्यं सोमं च कालकम।ब्रह्मादिस्तम्बपर्यनतं जगद्विष्णुं बदन्ति च।।
(अ0पु0पृ0 382)

3. त्क्तः प्रसूता जगतः प्रसूति सर्वात्मभूस्त्वं परमाणुभूतः ।
अणोरणीयान्महतो महीयास्त्वामेव सर्व प्रवदन्ति सन्तः ।।
(कू0पु0उ0वि0अ0 5)

प्राणी की हृदय गुहा में रहने वाला सूक्ष्म से सूक्ष्म ओर महान से महान है कामनारहित और शोक रहित होने पर ही मुनष्य उसके स्वरूप को जान पाता है।[1]

ईश्वर के अवतार :–

जब–जब संसार में धार्मिक प्रवृत्ति एवं पारस्परिक सद्भावना का ह्रास होता है तब–तब संसार को सचेष्ट करने के लिए तथा सत्पथ को अवलोकन कराने के लिए ईश्वर कोई न कोई अवतार धारण करता है । गीता का कथन इसी बात की पुष्टि करता है कि जब–जब धर्म की हानि और अधर्म की वृद्धि होती है । तब–तब मैं ईश्वर अवतार धारणा करता है।[2] जो साधु महात्मा अपने धर्म पर स्थिर है उसकी रक्षा के लिए पापियों के नाश के लिए और धर्म की संस्थापना के निमित धर्म बढ़ाने के लिए मैं युग–युग में अवतार धारण करता हूँ ।

रामचरितमानस में भी इसी कथन की समानता मिलती है कि जब–जब धर्म का ह्रास होता है और नीच अभिमानी राक्षस बढ़ जाते हैं और वे ऐसा अन्याय करते हैं कि जिसका वर्णन नहीं किया जा सकता तथा ब्राह्मण , गौ, देवता, ओर पृथ्वी कष्ट पाते है, तब–तब ईश्वर भाँति –भाँति के शरीर धारण कर सज्जनों की पीड़ा हरते हैं ।[3]

---

1. अणोरणीयान्महतो महीयानात्मास्य जन्तोर्निहितो गुहायाम् ।
तमक्रतुः पश्यति वीतशोको धातुः प्रसादान्महिमानमात्मनः।।
(क0उप0 1/2/20)
2. यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत ।
अभ्युत्थानम धर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम।।
(भ0गी0अ04 श्लोक 7)
3. जब–जब होई धरम कै हानी, बाढ़हि असुर अधम अभिमानी ।
तब तब प्रभु धरि विविध सरीरा, हरहिं कृपानिधि सज्जन पीरा ।। (रा0मा0बा0का0)

ईश्वर अनन्त है वे सर्वशक्तिमान परमात्मा अपना कोई प्रयोजन न होने पर भी, साधु, धर्म–संरक्षण एवं जीवों पर अनुग्रह करने के लिए शरीर धारण कर लिया करते हैं ईश्वर स्वतन्त्रता से अपने भक्तों की भक्ति के वश होकर अनेकों प्रकार के अवतार धारण करते हैं ओर अनेक प्रकार की लीलाएँ करते है।[1] जिस प्रकार किसी अक्षय जलाशय से असंख्य छोटे–छोटे जल–प्रवाह निकलकर चारों ओर फैलते हैं , उसी प्रकार सत्वनिधि परमेश्वर से विविध अवतारों की उत्पत्ति होती है। उनके अवतारण और अवतार चरित्र भी अनन्त हैं।[2]

पुरूषवतार , गुणावतार , कल्पावतार , युगावतार , पूर्णावतार , अशांवतार , कलावतार , आवेशावतार आदि उनके अवान्तर भेद है। कल्प–भेद से प्रभु–चरित्रों में भी भिन्नता आती है। श्री मदभागवत तथा अन्य पुराण ग्रन्थों में सर्वसमर्थ प्रभु के अनेक अवतारों का सविशेष वर्णन हैं ।

यजुर्वेद में कहा गया है कि प्रजाओं का पति ईश्वर गर्भ के भीतर भी विचरता है। वह तो स्वयं जन्मरहित है , किन्तु अनेक प्रकार से जन्म ग्रहण करता रहता है। विद्वान् पुरूष उसके उद्भव स्थान को देखते और समझते हैं ।[3]

---

1. यानि यानीह कर्माणि येर्यैः स्वच्छन्दजन्मभिः।
चक्रे करेति कर्ता वा हरिस्तानि ब्रुवन्तु नः।।
(भा0पु0स्क0प्रथम अ0 4)

2. अवतारा ह्यसंख्येया हरेः सत्वनिधेर्द्विजा।
यथाविदासिनः कुल्या सरसः स्युः सहस्रशः।।
(भा0पु0स्क0अ0उ)

3. प्रजापतिश्ररति गर्भे अन्तरजायमानो बहुधा वि जायते।
तस्य योनिं परिपश्यन्ति धीरास्तस्मिन ह तस्युभ्रुवनानि विश्वा।।
(यजु0वे0 31/19)

जिस समय वह आविर्भूत होता है , उस समय सम्पूर्ण भुवन उसी के आधार पर अवस्थित रहते हैं अर्थात वह सर्वश्रेष्ठ नेता बनकर लोकों को चलाता रहता है। वह परमात्मा स्त्रीरूप, पुरूषरूप, कुमार और कुमारी रूप में भी अवतार लेता है।[1] पुरूषरूप में राम , कृष्ण आदि अवतार प्रसिद्ध है , स्त्रीरूप महिषमर्दिनी आदि अवतारों का विस्तृत वर्णन श्री दुर्गासप्तशती में प्रसिद्ध है। वहाँ के सभी स्त्रीरूप ही हैं, व्यापक निराकार परमात्मा पुरूषरूप में अथवा स्त्रीरूप में इच्छानुसार कहीं भी प्रकट हो सकता है। कुमारीरूप में अवतार भी वहाँ वर्णित है और कुमाररूप में वामनावतार प्रसिद्ध ही है। ईश्वर के उन अद्‌भुत एवं कल्याणकारी अवतारों का चरित्र इस प्रकार है।

1.	सनत्कुमार	2	वराह	3	नारद
4.	नरनारायण	5	कपिलदेव	6	दत्तात्रेय
7	यज्ञपुरूष	8	ऋषभदेव	9	राजापृथु
10	व्यास	11	मत्स्य	12	हंस
13	कूर्म	14	श्रीराम	15	धन्वन्तरि
16	श्रीकृष्ण	17	मोहिनी	18	हयग्रीव
19	नृसिंह	20	हरि	21	वामन
22	बुद्ध	23	परशुराम	24.	कल्कि

---

1. त्वं स्त्री त्वं पुमांनसि त्वं कुमार उत वा कुमारी।
(अथर्व0 10/8/27)

1. श्रीसनत्कुमारः—

सष्टि के आरम्भ में लोकपितामह ब्रह्मा ने विविध लोकों को रचने की इच्छा से तपस्या की। स्रष्टा के उस अखण्डतप से प्रसन्न होकर विश्वाधार प्रभु ने 'सन' अर्थवाले 'तप' नाम से युक्त होकर सनक, सनन्दन, सनातन और सनत्कुमार इन चार निवृति परायण ऊर्ध्वरेता मुनियों के रूप में अवतार ग्रहण किया। ये प्राकटय—काल से ही मोक्षमार्ग परायण, ध्यान में तल्लीन रहने वाले नित्यसिद्ध और नित्य विरक्त थे। इन नित्यब्रह्मचरियों से ब्रह्मा जी के सृष्टि विस्तार की आशा पूर्ण नहीं हो सकीं देवताओं के पूर्वज और लोकस्रष्टा के आद्य मानसपुत्र सनकादि के मन में कहीं किंचित् आसक्ति नही थी। उन्होनें चार ब्राह्मणों के रूप में अवतार ग्रहण करके अखण्ड ब्रह्मचार्य का पालन किया।[1]

2. वराहावतारः—

समुद्र के लीन पृथ्वी का उद्धारकर सम्पूर्ण सृष्टि का विस्तार करना ही वाराह अवतार—धारण का मुख्य प्रयोजन है। पृथ्वी जल में डूब जाने से रसातल में चली गई और ब्रह्मा जी विचारने लगे कि जिनके संकल्प से ही मेरा जन्म हुआ है ,वे सर्वशक्तिमान श्रीहरि ही इस कार्य को पूर्ण कर सकते हैं। ब्रह्मा ने पृथ्वी के उद्धार और दैत्य हिरण्याक्ष के वध के लिए भगवान् का चिन्तन किया। प्रभु की स्मृति होते ही अकस्मात् ब्रह्मा के नासाछिद्र से अँगूठे के समान आकार का

---

1. स एव प्रथमं देवः कौमारं सर्गमस्थितः
चचार दुश्चरं ब्रह्मा ब्रह्मचर्यमखण्डितम्।। (भा0पु0 अ0उ)

वराह–शिशु प्रकट हुआ ।[1] प्रकट होते ही विशाल आकार वाला हो गया हैं वराहरूप में हरि का अवतार जानकर सभी उनकी वन्दना करन लगे। वराह विग्रह वाले भगवान् समुद्र में कूद पडे और जल को चीरते हुए रसातल मे जा पहुँचे,[2] वहाँ दैत्य हिरण्याक्ष ने पृथ्वी को छिपा रखा था। भगवान् को उद्धार के लिए आया जानकर पृथ्वीदेवी ने उनकी अनेकों प्रकार से स्तूति की। वराह भगवान् ने घर्घर शब्द द्वारा बड़ी भयंकर गर्जना की और अपने दाढों पर पृथ्वी को रखकर वे ज्यों ही समुद्र से बाहर निकले , त्यों ही गर्जना सुनकर दैत्य हिरण्याक्ष युद्ध के लिए आया और वराह रूप भगवान् ने उसे मार गिराया। पृथ्वी को जल से ऊपर लाकर स्थापित कर दिया।

3. नारदावतार :–

ऋषियों की सृष्टि में भगवान नारायण ने देवर्षि नारद के रूप में तीसरा अवतार ग्रहण किया ओर सात्वत–तन्त्र का जिसे नारद–पंचरात्र कहते हैं । उपदेश दिया, उसमें कर्मों के द्वारा किसी प्रकार कर्मबन्धन से मुक्ति मिलती है, इसका वर्णन है ।[3] देवर्षि नारदजी ब्रह्माजी के कण्ठ में से उत्पन्न माने गये है । सृष्टि कर्ता ब्रह्माजी ने इन्हें मैथुनी सृष्टि के लिए आज्ञा दी, परन्तु योगी नारद ने

---

1. इत्यभिध्यायतो नासाविवरात्सहसानध।
   वराहतोको निरगादडठपरिमाणकः।। (भा0पु0स्क0तृ0अ0)
2. खुरैः क्षुरप्रैर्दरयंस्तदाऽऽप उत्पारपारं त्रिपुरू रसायाम्।
   ददर्श गां तत्र सुषुप्सुरग्रे यां जींवधानी स्वयमभ्यधन्त।। (तदेव)
3. तृतीयमृषिसर्ग च देवर्षित्वमुपेत्य सः ।
   तन्त्रं सात्वतमाचष्ट नेष्कर्म्य कर्मणायतः ।। (भा0पु0स्क0प्र0अ03)

विषय भोग को ईश्वर भजन मे सर्वाधिक बाधक बताते हुए कहा— भगवान पुरूषोत्तम ही सबके आदिकरण तथा निस्तार के बीज हैं । वे ही सब कुछ देने वाले, भक्ति प्रदान करने वाले सत्य और कृपामय है । भक्तों के प्रिय, रक्षक और उन पर अनुग्रह करने वाले हैं । अमृत से भी अधिक प्रिय भगवान की सेवा को छोड़कर कौन मूर्ख विषय नामक विष का भक्षण करेगा विषय तो स्वप्न के समान नश्वर, तुच्छ, मिथ्या तथा विनाशकारी है ।

4. नरनारायणावतार :—

भगवान् वासुदेव ने सृष्टि के प्रारम्भ में धर्म की सहधर्मिणी मूर्ति से दो रूपों में अवतार धारण किया । वे अपनी मस्तक पर जटामण्डल धारण किये हुए थे । उनके हाथों में हंस, चरणों में चक्र एवं वक्षःस्थल में श्रीवत्स के चिन्ह् सुशोभित थे। उनकी बड़ी—2 भुजाएँ, मेघ के समान गम्भीर स्वर, सुन्दर मुख्य, चौड़ा ललाट, बाँकी भौंहें , सुन्दर ठोड़ी और मनोहर नासिका थी । उनका सम्पूर्ण वेष तपस्वियों का था । वे अत्यन्त तेजस्वी, रूप रंग और स्वभाव में एक—से थे । उनके नाम थे वरदातातपस्वियों "नर ओर नारायण" । इस प्रकार नर—नारायण के रूपमें चौथा अवतार ग्रहण किया इस अवतार में उन्होंने ऋषि बनकर मन और इन्द्रियों का सर्वथा सयंम करके बड़ी कठिन तपस्या की ।[1]

5. कपिल देवावतार :—

सृष्टि के आरम्भिक पादमकल्प के स्वायम्भुव—मन्वन्तर की बात है । पितामह ब्रह्माजी ने अपने मानस पुत्र प्रजापति कर्दम ने मैथुनी —सृष्टि के लिए

---

1. तुर्ये धर्मकालसर्गे नरनारायणावृषी ।
भूत्वाऽऽत्मोपशमोपेतमकरोद् दुश्र्चरं तपः ।। (भा0पु0स्क0प्र0अ03)

आज्ञा दी । पिता के आदेश से कर्दम ने सृष्टि के उद्देश्य से तपोबल प्राप्त करने के लिए कठिन तपस्या की । फिर बाद में देवहुति नामक राजकुमारी से विवाह किया । उनके गर्भ में से अविनाशी भगवान विष्णु ने कपिल के रूपमें अवतार लिया अर्थात् वे आदि पुरूष श्री नारायण ही अपनी योगमाया से कपिल के रूप में अवर्तीण हुए। इस अवतार में वे सिद्धों के स्वामीकपिल के रूपमें प्रकट हुए ओर तत्वों का निर्णय करने वाले सांख्य शासत्र का, जो समय के फेर से लुप्त हो गया था, आसुरि नाम ब्राह्मण को उपदेश किया ।[1]

6. दत्तात्रेयावतार :–

अत्रि मुनि के तप करने पर "दत्तो मयाहमिति यद् भगवान् स दत्ताः" अर्थात मैंने अपने–आपको तुम्हें दे दिया ।" श्री विष्णु के ऐसा कहने से विष्णु भगवान् ही अत्रि के पुत्ररूपमें अवतरित हुए ओर दत्त कहलाये । अत्रि का पुत्र होने के कारण व आत्रेय भी कहे जाते हैं । दत्त तथा आत्रेय के संयोग से वे दत्तात्रेय के रूप में प्रसिद्धि प्राप्त हुए । इस प्रकार अनुसूया के वर मांगने पर छठे अवतार में वे अत्रि की सन्तान दत्तात्रेय हुए । इस अवतार में उन्होंने अलर्क एवं प्रह्लाद आदि को ब्रह्मज्ञान का उपदेश किया ।[2] विष्णु के रूप में अवतरित होकर भगवान् दत्त ने जगत् का बड़ा ही उपकार किया है।इनकी प्रकृति शान्त थी । इन्होंने चौबीस गुरूओं से दिव्य भावपूर्ण शिक्षा ग्रहणकर अन्त में विरक्ति ली थी।

---

1. पंचमः कपिलोनाम सिद्धेशः कालविप्लूप्तम।
प्रोवाचासुरये सांख्यं तत्त्वग्रामविनिर्नयम।। (भा0पु0स्क0प्र0, अ03)
2. षष्ठे अत्रेरपत्यत्वं वृतः प्राप्तोऽनसूया।
आन्वीक्षिकीमलर्काय प्रह्लाददिभ्य ऊचिवान। (भा0पु0स्क0प्र0अ03)

7. यज्ञपुरूषावतार :–

स्वायम्भुव मनु की निष्पापा पत्नी शतरूपा के गर्भ से महाभागा आकूति का जन्म हुआ । वे रूचि प्रजापति की पत्नी हुइं । इन्हीं आकूति के गर्भ धर्म का प्रचार करने के लिए आदिपुरूष श्री भगवान् अवतरित हुए उनकी "यज्ञ" नाम से ख्याति हुई ।[1] इन्ही परमप्रभु ने यज्ञ का प्रवर्तन किया और इन्ही के नाम से यह प्रचलित हुआ । उनसे देवताओं की शक्ति बढ़ी और उस शक्ति से सारी सृष्टि शक्तिशालिनी हुई ।

स्वायम्भुव मनु और शतरूपा दोनों एकाग्रचित से तपस्या करने लगे । उसी समय वहाँ अत्यन्त क्षुधार्त्त असुरों एवं राक्षसों का समुदाय एकत्र हो गया । वे ध्यानमग्न परम तपस्वी मनु और शतरूपा को खाने के लिए दौड़े। सर्वान्तरर्यामी आकूतिनन्दन भगवान् यज्ञ अपने यामनामक पुत्रों के साथ तुरन्त वहाँ पहँचे । राक्षसों से भयानक संग्राम हुआ । अन्तः राक्षस पराजित हुए । भगवान् यज्ञ के पौरूष एवं प्रभाव को देखकर देवताओं की प्रसन्नता की सीमा न रही । भगवान यज्ञ के उनकी धर्मपत्नी दक्षिणा से अन्यन्त तेजस्वी बारह पुत्र उत्पन्न हुए थे । वे ही स्वायम्भुव मन्वन्तर में "याम" नामक बारह देवता कहलाये ।

8. ऋषभदेवावतार :–

स्वायम्भुव मनु के वंश में नाभि नामक एक राजा थे । उन्होंने भगवान नारायण को पुत्ररूप में प्राप्त करने के लिए कठोर तपस्या की और अनेक

---

1. ततः सप्तमा आकूत्यां रूचेर्यज्ञोऽभ्यजायत।
स यामाद्यैः सुरण्गणैरपात्स्वायम्भुवान्तरण ।। (भा0पु0स्क0प्र0अ03)

यज्ञ–याज्ञ किये उनकी हरिभक्ति और तपस्या से प्रसन्न हो नारायण ने प्रकट होकर उन्हें पुत्ररूप में प्राप्त करने का वर दिया । कालान्तर में नाभि की सौभाग्यशालिनी पत्नी मेरूदेवी से भगवान् का आविर्भाव हुआ, जो ऋषभदेव के नाम से विख्यात हुए । इस रूपमें परमहंसों का वह मार्ग, जो सभी आश्रम वालों के लिए वन्दनीय है ।[1] जैनियों के ये आदितीर्थंकार है । जैनाचार्यों ने इन्हीं के आचार को आदर्श माना है।

9. राजापृथुवतार :–

ऋषियों की प्रार्थना से नवमी बार वे राजा पृथु के रूपमें अवतीर्ण हुए । इस अवतार मं अन्होंने गोरूपधारिणी पृथ्वी को दुहकर अन्न, दूध, दही, ओर औषधियों को प्राप्त किया तथा पर्वत, नदी, समुद्र आदि की मर्यादा स्थापित की । सारे संसार का स्वामी होने से इन्हीं के नाम पर भूमि का नाम पृथ्वी पड़ा । इससे यह अवतार सबके लिए बड़ी कल्याणकारी सिद्ध हुआ ।[2] महाराज पृथु के राज्य में सर्वत्र सुख शान्ति थी । प्रजा सर्वथा निश्चिन्त् होकर अपने–अपने धर्म का पालन करती थी। राज्य में सर्वत्र शान्ति ही शान्ति थी। महाराज पृथु के चरणों में सारा जगत देवता के समान मस्तक झुकाता था।

---

1. अष्टमें मेरूदेव्यां तु नाभेर्जात अरूक्रमः ।
दर्शयन वर्त्म धीराणां सर्वाश्रमनमस्कृतम ।। (भा0प्र0स्क0प्र0अ03)

2. ऋषिभिर्यचितो भेजे नवमं पार्थिव वपुः ।
दुग्धेमामोषधीविप्रास्तेनायं स उशत्तमः ।।
(भा0पं0स्क0प्र0 अ0 3)

10 मत्स्यावतार :–

प्राचीनकाल में सूर्यपुत्र महाराज (वैवस्वत) मनु ने जो क्षमाशील, सम्पूर्ण आत्मागुणों से सम्पन्न, सुख–दुख को समान समझने वाले एवं उत्कृष्ट वीर थे । पुत्र को राज्य–भार सौंप कर स्वयं घोर तप का अनुष्ठान करने लगे ।[1] एक दिन की बात है कि राजा मनु नित्य की भाँति रांध्या तर्पण आदि नित्याक्रियाओं को सम्पन्न कर रहे थें, तब एक छोटी–सी मछली उनके हाथ में आ गिरी । उस मछली के रूपको देखकर वे नरेश दयार्द्र हो गये तथा उसे उस कमण्डलु में डालकर उसकी रक्षा कर प्रयत्न करने लगे[2] एक दिन–रात में वह मत्स्य सोलह अंगुल बड़ा हो गया तब राजा ने जलचारी जीव को मिट्टी के बड़े घड़े में डाल दिया। एक रात में वह मछली इतनी बढ़ गयी कि घड़े में रहने के लिए स्थान नहीं रह गया । तब वह राजा से कहने लगी, यहाँ मुझे बड़ा कष्ट हो रहा है । अतः मुझे किसी बड़े स्थान पर रखिये उसकी प्रार्थना सुनकर राजा ने उसे एक तालाब में छोड़ दिया । उसमें भी रातभर बढ़ते –बढ़ते वह दो योजन की हो गयी। तब राजा ने उसे किसी प्रकार गंगा में छोड़ा ।[3] अन्त में गंगा से वह

---

1. पुरा राजा मनुर्नाम चीर्णवान् विपुलं तपः ।
पुत्रे राज्यं समारोप्य क्षमावान् रविनन्दनः ।।
(म0पु0अ01 श्लोक 13)

2. दृष्ठा तच्छफरीरूपं स दयालुर्महीपतिः ।
रक्षणायाकरोद् यत्नं स तस्मिन करकोदरे ।
(म0पु0अ01 श्लोक 13)

3. ततः स मनुना क्षिप्तो गंगायामप्यवर्धता ।
यदातदा समुद्रे तं प्राक्षिपन्मेदिनीपतिः ।। (म0पु0अ01)

अगाध समुद्र में चली गयी । समुद्र में भी वह निरन्तर बढ़ती चली गयी और पुनः रक्षा के निमित प्रार्थना करने लगी ।[1]

उन मत्स्यरूपी भगवान की मधुर वाणी सुनकर ओर इस प्रकार विचित्र लीला देखकर राजा मनु की बुद्धि मोहाच्छन्न हो गयी । तब उन्होंने पूछा हमें मत्स्यरूप से मोहित करने वाले आप कौन है? अवश्य ही आप सर्वशक्तिमान, सर्वव्यापी, अनिवाशी सक्षात् श्रीहरि है । जीवों पर अनुग्रह करने के लिए ही आपने जलचर का रूप धारण कर रखा है ।[2]

राजा के इस प्रकार प्रार्थना करने पर उन्होंने कहा राजन् ! शीघ्र ही यह चराचर पार्थिव जगत् जल में मग्न होने वाला है, तब सम्पूर्ण विश्व का प्रलय हो जाएगा ।[3] आप सचेत होकर एक विशाल सुदृढ़ नौका बनवाकर उसमें एक अत्यन्त सुदृढ़ रस्सी, बाँधकर सवार हो जाइये । इस नौका में जितने भी स्वेदज, अण्डज, उद्विज्ज और जरायुज जीव को चढ़ाकर रक्षा करना ।[4] मैं मत्स्यरूपमें अपने मस्तक पर एक बृहत शृंग धारण किये हुए आऊँगा इस प्रकार मत्स्यावतार धारण कर सम्पूर्ण चाराचर जगत् की रक्षा की ।[5]

---

1. यदा समुद्रमखिलं व्ययप्यासौ समुपस्थितः ।
   तदा प्राह मनुर्भीतः कोऽपि त्वमसुरेश्वर :।। (म0पु0अ01)
2. ज्ञातरत्त्वं मत्स्यरूपेण माँ खेदयसि केशव ।
   हृषिकेश जगन्नाथ जगद्धाम नमोऽस्तु ते ।। (म0पु0अ01)
3. अचिरंणैव कालेन मेदिनी मेदिनीपते ।
   भविष्यति जले मग्ना सशैलवनकानना ।। (म0पु0अ01 श्लोक 30)
4. नौरियं सर्वदेवानां विनिर्भिता ।
   महाजीवनिकायस्य रक्षणार्थ महीपते ।। (म0पु0अ01 श्लोक 30)
5. रूपं स जगृहे मात्स्यं चाक्षुषोदधिसम्पल्पवे ।
   नाव्यारोप्य महीप्यामपाद्वैवस्वतं मनुम् ।।
   (म0पु0अ01 श्लोक 30)

11. कूर्मावतार :–

प्राचीन काल में अमुत की प्राप्ति के लिए देवताओं ने दिति के पुत्र दैत्यों और दानवों के साथ समुद्र का मन्थन किया ।[1] ब्रह्मा आदि ने पृथ्वी पर की समस्त औषधियों तथा वनस्पतियों को समुद्र मे डाला । मथानी के लिए मन्दरांचल का सहारा जिया और वासुकिनाग की रस्सी बनाकर सिर की ओर दैत्यों तथा पूँछ की ओर देवताओं ने पकड़कर समुद्र का मन्थन आरम्भ कर दिया, किन्तु अथाह सागर में डूबता पाताल में चला गय।[2] यह देखकर अचिन्त्यशक्ति सम्पन्न लीलावतारी भगवान् श्रीहरि कूर्मरूप धारणकर उसे नीचे से ऊपर उठाकर ओर थोड़ा अंश समुद्र से ऊपर रखकर स्वयं भी देवता ओर असुरों के साथ रस्सी बने वासुकिनाग को पकड़ कर मथने लगे । उस समय भगवान् जम्बूदीप के समान एक लाख योजना फैली हुई अपनी पीठ पर मन्दराचल को धारण कर रखा था ।[3] कूर्मपुराण में भी इसी प्रकार का वर्णन मिलता है कि देवताओं के कल्याण की कामना से जनार्दन भगवान् विष्णु ने कूर्मरूप धारण करके उस मन्दराचल को ऊपर उठाये रखा कूर्म (कच्छप) रूप धारण किये हुए[4] सर्वद्रष्टा अविनाशी भगवान विष्णु को देखकर देवता और नारदादि महर्षियों ने उनकी स्तुति की ।[5]

---

1. पुरामृतार्थं दैतेयदानवैः सह देवता (भा0पु0स्क0प्र0अ03)
मन्थानं मन्दरं कृत्वा ममन्थुः क्षीरूसागरम ।। (कू0पू0वि0अ01)
2. कृत्वा वपुः काच्छमभ्दुतं महत् प्रविश्य तोयं गिरिमज्जहार ।(भा0पु0स्क0अष्टम् अ01)
3. दधार पृष्ठेन स लक्षयोजनप्रस्तारिणा द्वीप इवापरों महान । भा0पु0स्क0अष्टम् अ01)
4. मध्यमाने तदा तस्मिन् कूर्मरूपी जनार्दनः ।
बभार मन्दरं देवों देवाना हितकाम्यया ।। (कू0पु0पू0वि0अ01)
5. देवाश्र्च तुष्टुवर्देवं नारदाद्या महर्षयः ।
कूर्मरूपधरं दृष्टा साक्षिणं विष्णुमव्ययम् ।। (कू0पु0पू0वि0अ01)

12. धन्वन्तरि अवतार :—

एक बार देवताओं ओर असुरों ने अमृत प्राप्ति की इच्छा से समुद्र मन्थन किया । तब उसमें से एक अत्यन्त अलौकिक पुरूष प्रकट हुआ । जो अनेक अलंकरणों से युक्त, सर्वाग, सुन्दर, अदभुत, पराक्रम एवं तेज से सम्पन्न, अपने हाथ में अमृत पूर्ण कलश लिये,[1] विष्णु के नामों का जप करते हए पीताम्बरधारी एक अलौकिक पुरूष प्रकट हुए ।[2] भगवान विष्णु के अंशावतार वे ही अन्वन्तरि के नाम से प्रसिद्ध हुए । और आयुर्वेद के प्रवर्तक कहलाये ।[3] उनका आविर्भाव कार्तिक कुष्णात्र.योदशी (धनतेरस) को हुआ था । आज भी प्रतिवर्ष इसी तिथि को आरोग्य–देवता के रूपमें मनायी जाती है । इनके नाम का स्मरण करने मात्र से समस्त रोग दूर हो जाते हैं । इसलिए श्रीमद्‌भागवत् में ''स्मृतियात्रार्तिनाशनः'' कहे गये है। भगवान धन्वन्तरि ने लोककल्याणार्थ अवतार ग्रहण किया।

13. मोहिनी अवतार :—

जरा और मृत्यु –निवारिणी सुधा की प्राप्ति के लिए देवता और दैत्यों ने मिलकर क्षीरसागर का मन्थन किया । सुधापान के लिए आतुर असुरों ने आपस में झगड़ना शुरू कर दिया । प्रत्येक असुर ने आपस मे झगड़ना शुरू कर दिया ।

---

1. दीर्घपीवरदोर्दण्डः कम्बुग्रीवोऽरूणेक्षणः ।
   श्यामलस्तरूणः स्रग्वी सर्वाभरणभूषितः ।। (भा0पु0स्क0अष्टम अ0 8)
2. पीतावासा महोरस्कः सुमृष्टमणिकुण्डल ।
   स्निग्धकुंचितकेशान्तः सुभगः सिंहविक्रमः ।। (भा0पु0स्क0अष्टम अ0 8)
3. स वै भगवतः साक्षाद्विष्णोरंशांश सम्भव ।
   धन्वन्तरिरिति ख्यात आयुर्वेददृगिज्यभाक ।। (भा0पु0स्क0अष्टम अ0 8)

प्रत्येक असुर अद्भुत शक्ति एवं सम्पन्न अमरता प्रदान करने के वाला अमृत सर्वप्रथम पी लेना चाहता था । किसी को धैर्य नहीं था । अमृत घट प्राप्त करने के लिए सब परस्पर छीना झपटी और तू–तू मैं–मैं करने लगे ओर उधर सभी उपायों जानने वालों के स्वामी चतुरशिरोमणि भगवान् ने अत्यन्त अद्भुत और अवर्णनीय स्त्री का शरीर धारण किया ।[1] मोहिनी–रूपधारी श्रीभगवान को देखकर सबके सब मोहित ओर मुग्ध हो गये । उनके अलौकिक सौन्दर्य से मोहित असुरों ने अमुत–घट उनके हाथ में दे दिया ।[2] मोहिनी ने मुस्कुराते हुए दैत्यों की दृष्टिपात किया । वे आनन्दोन्मत्त हो गये । तब उन्होंने दूर की पंक्ति में बैठे अमरों को अमृत–पान कराना प्रारम्भ किया । धैर्य धारण न कर सकने के कारण छाया–पुत्र राहु देवताओं के वेष में सूर्य–चन्द्र के समीप बैठ गया । अमृत उसके कष्ठ से नीचे उतर भी न पाया था [3] कि दोनों देवताओं ने इंगित कर दिया ओर दूसरे ही क्षण प्रभु ने तीक्ष्णतम चक्र से उसका मस्तक काटकर पृथ्वी पर जा गिरा ।[4] चौंककर दानवों ने देखा तो मोहिनी शंख–चक्र–गदा–पद्मधारी श्री विष्णु बन गयी ।

1. एतस्मिन्नन्तरे विष्णुः सर्वोपायविदीश्वरः ।
योषिद्रूपमनिर्देश्यं दधार परमाभ्द्रुतम ।। (भा0पु0स्क0अष्टमअ0 8)
2. इति ते क्ष्वेलितैस्तस्या आश्रवंस्तमनसोऽसुराः ।
जहसुर्भावगम्भीरं ददुश्चामृतभाजनम ।। (भापु0स्क0अष्टम अ0 9)
3. देवलिंगप्रतिच्छन्नः स्वर्भानुर्देवसंसदि ।
प्रविष्टः सोममपिबद्यन्द्राकाभ्यां च सूचितः ।। (भा0पु0स्क0अष्टम, अ0 9)
4. चक्रेण क्षुरधारेण जहार पिबतः शिरः ।
हरिस्तस्य कबन्धस्तु सुधयापलावितोऽपतत् ।। (भा0पु0स्क0अष्टम, अ0 9)

14. नृसिंह अवतार :—

महर्षि कश्यप की पत्नी दिति के दो पुत्र के दो पुत्र उत्पन्न हु— हिरण्कशिपु और हिण्याक्ष । जब वराह भगवान् हिरण्याक्ष का बध कर डाला तब भाई के बध से संतप्त हो द्वेष की भावना से उग्र तप करना शुरू कर दिया ।[1] उधर हिरण्याकशिपु की पत्नी कयाधू के गर्भ से भगवान् के परमभक्त प्रह्लाद का जन्म हुआ । हिरण्याकशिपु की कठोर तपस्या से प्रसन्न होकर ब्रह्माजी ने बर माँगने को कहा । तब से उसने कहा यदि आप अमर होने का बर नहीं देते तो मैं आपकी बनाई हुई सृष्टि के किसी भी प्राणी से न मरूँ।[2] बाहर —भीतर, जल—स्थल, अस्त्र शस्त्र, दिन—रात पृथ्वी—आकाश तथा देवता, ऋषि—मुनि, सिद्ध—साध्य गन्धर्व किन्नर मनुष्य और दैत्य कोई भी मेरा बध न कर सके ।[3] यह सुनकर ब्रह्माजी कुछ विचार करने लगे फिर भी हरि का स्मरण आते ही " तथास्तु " कहकर अन्तर्हित हो गये ।

अवध्यत्व का वर पाकर हिरण्याकशिपु सभी पर अत्याचार करने लगा । ऊधर प्रह्लाद के मुख से विष्णु की सर्वशक्तिमानता और सर्वव्यापकता की बात सुन वह आग बबूला हो उठा और और दैत्यों को उन्हें मारने का आदेश दिया ।

---

1. स तपे मन्दरद्रोण्यां तपः परमदारुणम् ।
(भा0पु0स्क0सप्तम अ03)

2. यदि दास्यस्यभिमतान् वरान्मे वरदोत्तम् ।
भूतेभ्यस्त्वद्विसृष्टेभ्यों मृत्युर्मा भून्मम प्रभो ।। (भा0पु0स्क0सप्तम अ03)

3. नान्तर्बहिर्दिवा नक्तमन्यस्मादपि चायुधैः ।
न भूमौ नाम्बरे मृत्युर्न नरैर्न मृगैरपि ।। (भा0पु0स्क0सप्तम अ0—3)

हाथियों से कुचलवाया, विषधर सर्पो से डसवाया, पहाड़ की चोटी से गिराया, समुद्र में डुबवाया आदि–आदि, परन्तु सब व्यर्थ ही रहा ।[1] इस प्रकार जब उसके अत्याचारों की सीमा न रही ओर हिरण्याकुशिपु ने प्रह्लाद को चेतावनी देते हुए कहा कि अगर तेरा ईश्वर सर्वव्यापक है तो वह इस खम्भे से प्रकट क्यों नहीं होता । कुध हिरण्याकशिपु ज्यों ही तलवार लेकर मारने को दौड़ा, ज्यों ही खम्भे को फाडकर भंयकर गर्जना के साथ विकराल रूप धारण किये हुए नृसिंह भगवान प्रकट हुए ।[2] हिरण्याकशिपु ने उस भयंकर रौद्ररूप को देखा तब वह गदा लेकर उन पर प्रहार करने के लिए दौड़ा भगवान् ने बड़े बेग से उसे पकड़कर अपनी जाँघों पर सुलाया ओर अपने सुतीक्ष्ण नखों से उसका उदर विदार्ण कर दिया । श्री नृसिंह अवतार धारण कर हिरण्याकशिपु का उद्धार किया ।

14. वामनावतार :–

प्रह्लाद का पौत्र दैत्यराज बलि हुआ जिसने अपने बाहुबल से त्रिलोकी को मुठ्ठी में कर रखा था । देवताओं ने बलि से दुःखी होकर भगवान से कष्ट निवारण हेतु प्रार्थना की, और भगवान ने उन्हें आश्वस्त करते हुए कहा अदिति के गर्भ से मैं वामन रूपमें अवतार लूँगा। समय आने पर वह वामनरूप धारण कर दैत्यराज बलि के यज्ञ में गये । त्रैलोक्यविजयी बलि से आप तीन पग धरती माँग

---

1. दिग्गजैर्दन्दशूकैश्च् अभिचारावपातनैः ।
   हिमवाय्वनिसलिलैः पर्वताक्रमणैरपि ।। (भा0पु0स्क0सप्तम अ0–5)
2. नरस्यार्धतनुं कृत्वा सिंहस्यार्धतनुं तथा ।
   नृसिहवपुरव्यक्तो हिरण्यकशिपोः पुरे ।। (कू0पु0पू0वि0अ0 25)

रहे हैं। मेरे पास जो भी याचक बनकर आया है ।[1] मैंने उसे दुर्लभ पदार्थ भी दान में दे दिया है आपको भूमि ही माँगनी हो तो जितनी चाहिए, मैं द्वीप–के–द्वीप दे सकता हूँ आप माँग कर तो देखिए । वामन भगवान् ने मन ही मन मुस्कुराते हुए कहा – दैत्यवर मुझे तीन पग ही भूमि चाहिए । गुरू शुक्राचार्य भगवान की लीला समझ रहे थे कि साक्षात् भगवान् नारायण ही वामन रूपमें छलने आये हैं।[2] परन्तु गुरू के लाख मना करने पर भी बलि ने उन्हें अपनी दानवीरता का परिचय देते हुए तीन पग भूमि दे दी।

उसी समय अनन्त भगवान का वह त्रिगुणात्मक वामन रूप विराट–स्वरूप वाला हो गया । भगवान ने एक पग में सम्पूर्ण पृथ्वी नाप ली, दूसरे पग में स्वर्ग लोक को भी नाप लिया ।[3] तीसरे पग रखने के लिए बलि की तनिक सी भी वस्तु न बची । भगवान ने बलि से कहा कि मैं तुम से अत्यन्त प्रसन्न हूँ क्योंकि गुरू के मना करने पर भी तू अपने वचन पर अडिग रहा । भगवान की आज्ञा पाकर बलि सपरिवार तथा पितामह प्रह्लाद के साथ सुतललोक के अखण्ड साम्राज्य का अधिपति बना । शुक्राचार्य ने प्रभु की आज्ञा पाकर यज्ञ पूर्ण किया । भगवान् ने इन्द्र को इन्द्रासन प्रदान किया । देवगणों को यज्ञ का भागी बनाया ।

---

1. पंचदशं वामनकं कृत्वागादध्वरं बलेः ।
   पदत्रयं याचमानः प्रत्यादित्सुस्त्रिविष्टपम् ।। (भा0पु0स्क0प्रथम अ03)
2. एष बैरोचने साक्षाद् भगवान्विष्णरव्ययः ।
   कश्यपाददितेर्जातो देवानां कार्यसाधकः ।। (भा0पु0स्क0अष्टम अ0–19)
3. पदं द्वितीय क्रमतस्त्रिविबृषं न वै तृतीयाय तदीयमण्वपि ।
   उरूक्रमस्याड़्घ्रिंरूपर्युपर्यथो महर्जनाभ्यांतपसः परं गतः
   (भा0पु0स्क0अष्टम अ0–19)

16. परशुरामावतारः–

भगवान् परशुराम ऋचीक के पौत्र और जमदग्नि के पुत्र हैं । इनकी माता का नाम रेणुका था ।[1] ये विष्णु के आवेशावतार माने गये हैं । ये शंकर के परम भक्त हैं। भगवान् शंकर की कृपा से इन्हें ''परशु'' नामक अमोध शस्त्र प्राप्त हुआ था । इनका वास्तविक नाम राम था, किन्तु ''परशु' धारण करने से ये ''परशुराम'' के नाम से विख्यात हुए ।

ये पितृभक्त के रूप में सदा स्मरण किये जाते रहेंगे । एक बार की बात है कि माता से एक अपराध हो गया जिसे जानकार महर्षि जमदग्नि अत्यन्त कुद्ध हो गये । उन्होंने आज्ञा दी कि इसका सिर काट डालों। तब परशुराम ने पिता का संकेत समझ कर उन्होंने माता का सिर काट डाला । जभदग्नि इनकी पितृभक्ति से प्रसन्न होकर वर माँगने को कहा । तात यदि आप प्रसन्न हें तो मेरी माता पुनः जीवित हो जाये तब जमदग्नि ऋषि ने योगबल से उनकी माता रेणुका को पुनः जीवित कर दिया तो उन्होंने कहा कि उस समय कृतवीर्य का पुत्र सहस्त्रार्जुन भगवान् दत्तात्रेय की कृपा से हजार भुजाऐं प्राप्तकर भूमण्डल पर एकच्छप राज्य कर रहा था[2] कि एक दिन वह जंगल में सेनासहित शिकार खेलने गया। मुनि जमदग्नि ने उसे सेनासहित आश्रम में विश्राम करने को कहा राजा ने सोचा कि इतनी विशाल सेना का आतिथ्य ये कैसे सम्पन्न करेंगे । किन्तु उसे क्या पता था

---

1. तस्यां वै भार्गवऋषें: सुता वसुममदादयः ।
   यवीयजंज्ञ एतेषां राम इत्यभिविश्रुतः (भा0पु0स्क0नवम, अ0 15)

2. हैह्यानामधिपतिरर्जुनः क्षत्रियर्षभः ।
   दत्तं नारायणस्यांशमाराध्य परिकर्मभि ।। (भा0पु0स्क0नवम, अ0 15)

कि आश्रम में कामधेनु गौ है ।[1] राजा उसे महर्षि से बलपूर्वक छीन लाया । परशुराम को जब यह सब ज्ञात हुआ तो वह क्रोध से काँप उठे। सहस्त्रार्जुन से युद्ध करके उसे मार दिया और कामधेनु को आश्रम में ले आये ।

सहस्त्रार्जुन की मृत्यु से उसके पुत्रों के मन में पितृ –प्रतिशोध की आग धधक रही थी । परशुराम अपने भाईयों के साथ कही दूर वन में घूमने गये थे, तब अच्छा अवसर जानकर छदम्वेष से आश्रम में प्रविष्ट होकर महर्षि जमदग्नि का मस्तक काटा डाला । जब परशुराम वापस आए तो उन्हें यह समझते देर न लगी कि यह किसका कुकृत्य है । उसी समय उन्होंने यह प्रतिज्ञा कर ली कि मैं समस्त पृथ्वी को क्षत्रियों से रहित कर दूँगा । उन्होंने सहस्त्रार्जुन के दस हजार पुत्रों तथा अन्य क्षत्रियों का संहार कर डाला । समस्त पृथ्वी पर घूम–घूम कर इक्कीस बार क्षात्रियों का संहार किया ।[2]

अन्त में बीतराग होकर ये महेन्द्राचार्य पर तपस्या करने लगे । यावज्जीवन ब्रह्मचारी रहे । इनकी संतति परम्परा का कोई उल्लेख नहीं मिलता ।

17 व्यासावतार :–

लोकोत्तर–शक्ति–सम्पन्न भगवान् ब्यास भगवान् नारायण के कलावतार थे। वे बह्मज्ञानी महर्षि पराशर के पुत्ररूपमें प्रकट हुए थे । उनका जन्म सत्यवती के

---

1. तस्मैं स नरदेवाय मुनिरर्हणमाहरत् ।
   ससैन्यामात्यवाहाय हविष्मत्या तपोधनः ।। (भा0पु0स्क0नवम अ0 15)
2. त्रिः सप्तकृत्वों य इमां चक्रे निःक्षत्रियां महीम् ।। (भा0पु0स्क0नवम अ0 15)

गर्भ से यमुना जी के द्वीप में हुआ था । इस कारण उन्हें पाराशर्य ओर द्वेपायन भी कहते हैं । उन्हें अंगोसहित सम्पूर्ण वेद, इतिहास ओर परमात्मतत्त्व का ज्ञान स्वतः प्राप्त हो गया था ।

परम पुण्यमय सत्यवतीनन्दन ने मनुष्यों की आयु ओर शक्ति को अत्यन्त क्षीण होते देखकर वेदों का व्यास विस्तार किया इसलिए वे ''वेदव्यास'' नाम से प्रसिद्ध हुए । फिर वेदार्थ की शक्ति के साथ अनादि पुराण को लुप्त होते देखकर भगवान् कृष्णद्वैपायन ने पुराणों का प्रणयन किया । अष्टादश पुराणों के अतिरिक्त बहुत से उपपुराण तथा अन्य ग्रन्थ भी भगवान् व्यास द्वारा निर्मित है । इस प्रकार व्यास के रूप में अवतरित होकर लोगों की समझ और धारण शक्ति कम देखकर आपने वेदरूप वृक्ष की अनेक शाखाएँ बना दी ।[1]

18. हंसा:वतार :–

भगवान् विष्णु के चौबीस अवतारों में ''हंस'' एक अवतार विशेष है । भगवान् विष्णु ने हंस रूप धारण कर सनत्कुमारादि मुनियों को ज्ञानमार्ग तथा आत्मातत्व का जो रहस्यमय सूक्ष्म उपदेश दिया था श्रीमदभागवत के अनुसार पितामह ब्रह्मा जी के मानस पुत्र सनत्कुमार अध्यात्म के विषय पर जिज्ञासा लेकर पहँचे । पिता इनके प्रश्नों का उत्तर देने में असमर्थ रहे । इन्होंने विष्णु का ध्यान किया,उसी समय समक्ष अमित तेजस्वी, परमोज्जवल, तत्त्वोपदेष्टा हंस के रूपमें प्रकट होकर अध्यात्म विषयक सभी शंकाओं का समाधान किया ।[2]

---

1. ततः सप्तदशे जातः सत्यवत्यां पराशरात् ।
चके वेदतरोः शाखा दृष्टा पुंसोऽल्पमेधसः ।। (भा0पु0स्क0प्रथम अ0–3)

2. स मामचिन्तयद् देवः प्रश्नपारितितीर्षया ।
तस्याहं हंसरूपेण सकाशमगमं तदा । (भा0पु0स्क0एकादश अ0–13)

19. रामावतार :–

स्वायम्भुव मनु एवं शतरूपा में तपोभूमि नेमिषारण्य में गोमती के तट पर सहस्रों वर्षों तक तप किया । जिसक फलस्वरूप साक्षात् नारायण ने मर्यादा पुरूषोत्तम श्रीराम के रूप में अवतार धारण किया[1] श्रीराम साक्षात् परमब्रह्मपरमात्मा के रूप में जीवनमात्र का कल्याण करने के लिए अवतरित हुए थे । इनका चरित्र विश्वामित्र की यज्ञ–रक्षा से जनकपुर में शित–धनुष–भंग सीता विवाह, परशुराम गर्व–भंग आदि के रूपमें विख्यात हैं । यज्ञ रक्षा के लिए जाते समय मार्ग में इन्होंने गौतम –पत्नी अहिल्या का उद्धार किया ओर महर्षि के आश्रम पर पहँचकर ताड़का –सुबाहु आदि दैत्यों का संहार किया । बाद में कैकयी के वरदानस्वरूप चौदह वर्ष के लिए ये वन में गये । ऋषियों के आश्रम में जाकर उन्हें कृतार्थ किया ओर सुतीक्षण शरभंग शबरी आदि को सद्गति प्रदान की । फिर पंचवटी में सूर्पनखा की नासिका का छेदन कर, खर–दूषण और त्रिशिरा का वधकर रावण को क्रुद्ध किया । रावण ने मारीच की सहायता से सीता का अपहरण किया ।

सीता जी की खोज करते समय मागे में कबन्धादि दैत्यों का उद्धार किया तथा ऋषयमूकपर्वत पर पहुँचकर सुग्रीव से मैंत्री और बालि का वध किया । हनुमान जी ने सीता का पता लगाया । फिर समुद्र में पुल बाँधकर वानरीसेना की सहायता से रावण कुम्भकर्णादि का वध किया । विभीषण को राज्य देकर सीता का उद्धार किया । इन्होंने लगभग ग्यारह हजार वर्ष तक पृथ्वी पर राज्य कर त्रेता में सत्ययुग की स्थापना की ।

1. तस्यापि भगवानेष साक्षाद ब्रह्ममयो हरिः ।
अंशाशेन चतुर्धागात् पुत्रत्वं प्रार्थिवः सुरैः ।। (भा0पु0स्क0नवम अ0 10)

20. कृष्णावतार :–

जैसे श्रीराम पूर्णतम मर्यादापुरूषोत्तम रूप से विख्यात हे । पुराणों में श्रीकृष्ण के अद्‌भुत चरित्र तथा दिव्यतम उपदेश विस्तार से प्रतिपादित है । इनका आविर्भाव भाद्रपदमास की कृष्णाष्टमी को अर्धरात्रि के समय मथुरा में कंस के कारागार में हुआ था ।

कंस, अरिष्ट, धेनुक, केशी, वाणासुर, आदि के महान अत्याचारों से पृथ्वी भार सहन करने में असमर्थ हो गयी । तब गौ का रूप धारण कर अपना दुःख ब्रह्मा आदि देवों से निवेदन किया । भगवान ने अपने श्याम और श्वेत दो केश उखाड़े ओर कहा – मेरे ये दोनों केश पृथ्वी पर अवतार लेकर दुष्टों का संहार कर धर्म की स्थापना करेंगे । श्री हरि की दो ही शक्तियॉ श्री बलराम और श्रीकृष्ण के रूप में अवतरित हुई ।

स्वयं श्री हरि बालकरूप में विचित्र लीलाएँ करने लगे । बालधातिनी पूतना, शक्टासुर और तृणावर्त का उद्धार , माखन चोरी, गौ–चारण यशोदा को विराट्‌रूप का दर्शन, यमलार्जुन – उद्धार, , कालियामर्दन, दावानल पान, इन्द्र मान भंग, महारास कीड़ा, कुब्जा को रूपदान, रंगशाला में धनुष –भंग रंगमंच पर स्थित कंस बध, माता–पिता की बन्धन मुक्ति तथा महर्षि सांदीपनि के यहाँ विधाध्ययन में सम्मिलित होना ।

तत्पश्चात्‌ तेईस अक्षौहिनी सेना के साथ मथुरा पर चढ़ाई करने वाले जरासंध को सत्रह बार पराजित करना, कालयवन के भय से समुद्र में द्वारिकापुरी का निर्माण और वहाँ यदुवंशियों को सुरक्षित पहुॅचाना, मुचुकुन्द की दृष्टि से

कालयवन को भस्म कराना, रूक्मणि हरण, जाम्बवान के साथ युद्ध और जाम्बवती की प्राप्ति, सात बैलों को नाथ कर सत्या का प्राणि–ग्रहण, भस्मासुर–बध , सोलह हजार कन्याओं का उद्धार, भीमसेन द्वारा जरासन्ध का वध कराना, शिशुपाल वध, सुदामा कृपा, युधिष्ठिर के कहने पर दूत का काम करना, द्रोपदी की लज्जा–रक्षा, महाभारत के युद्ध में अर्जुन का सारथ्य करना, संग्राम आरम्भ में गीतोपदेश, यदुवंश का संहार ओर अन्त में व्याध के वाणाघात से सशरीर स्वधाम गमन– ये प्रमुख लीलाएं हैं ।

21. हयग्रीव अवतार :–

एकार्णव जल में पृथ्वी के विलीन हो जाने पर विद्याशक्ति से सम्पन्न भगवान् विष्णु योगनिद्रा का आश्रय लेकर शेषशय्या पर शयन कर रहे थे । भगवान की नाभि से सहस्रदल पदम प्रकट हुआ । उस कमल सम्पूर्ण लोकों के स्रष्टा भगवान हिरण्यगर्भ प्रकट हुए । परम तेजस्वी ब्रह्मा उस पदम् पर बैठे हुए चारों और जल ही जल था । श्रीनारायण की प्रेरणा से पहले ही रजोगुण ओर तमोगुण की प्रतीक जल की दो बूँदें पड़ी थी । उनमें से एक बूँद दैत्य मधु के रूप में और दूसरी बूँद दैत्य कैटभ के रूप में परिणत हुई दोनों ही दैत्य अत्यन्त वीर ओर बलवान थे ।

कमलनाल के सहारे वे दैत्य ब्रह्मा के पास पहुँच गये लोक पितामह सृष्टि रचना के कार्य में प्रवृत थे ओर उनके समीप ही अत्यन्त सुन्दर स्वरूप धारण किये हुए चारों वेद थे । उन महावली दैत्यों की दृष्टि ज्यों वेदों पर पड़ी त्यों ही उन्होंने वेदों का हरण कर लिया । उनको लेकर रसातल में पहँच गये ।

ब्रह्मा ने वेदों को अपने समीप न देखकर दुःखी मन से ईश्वर से प्रार्थना करने लगे कि मेरे नेत्ररूप वेद दानवों ने हर लिये गये हैं, अतः मैं अन्धा सा हो गया हूँ। अतः आप वेदों की रक्षा करो हिरण्यगर्भ की इस प्रकार विनम्र प्रार्थना सुनकर भगवान प्रकट हुई । वेदों का उद्धार करने के लिए वे सर्वात्मा परम प्रभु अत्यन्त सुन्दर एवं कान्तिमान् हयग्रीव के रूप में प्रकट हुए । उनका वह परमपवित्र मुखारविन्द वेदों का आश्रय था ।

इस प्रकार अद्‌भुत परमतेजस्वी हयग्रीवरूप धारण कर समुद्र से प्रवेश करके रसातल में जा पहँचे । वहाँ मधु और कैटभ दोनों दैत्यों को मारकर वेदों को सुरक्षित ब्रह्मा के पास पहुँचाया ।

22. हरि अवतार :—

प्राचीन काल की बात है द्रविड़ देश में एक पाण्डयवंशी राजा राज्य करते थे। उनका नाम था इन्द्रध्रुम्न । इन्द्रघुम्न के मन में अपने आराध्य की लालसा बढ़ती गई । इस कारण उन्होंने राज्य त्याग कर परब्रह्म की आराधना में तल्लीन थें । बाहरी जगत् का उन्हें तनिक भी ध्यान नहीं था । महर्षि अगस्त्य इनके पास आए ओर उनका सत्कार नहीं होने के कारण महर्षि ने उन्हें शाप दे दिया कि तुझे घोर अज्ञानमयी हाथी की योनि प्राप्त हो ।

इस प्रकार कालान्तर में वह राजा हाथी की योनि को प्राप्त हुआ । एक दिन गजेन्द्र प्यास बुझाने की इच्छा से सरोवर के किनारे गया । प्यास बुझाकर स्नान करने लगा, इतने में ग्राह ने उसको पकड़ लिया । गजेन्द्र ग्राह को बाहर

खींचता और ग्राह गजेन्द्र को भीतर । दोनों में संघर्ष चला रहा था ।[1] गजेन्द्र ने अपनी पूरी शक्ति का प्रयोग किया परन्तु फिर भी वह अपनी प्राणों को बचाने में असमर्थ रहा । तब उसने ईश्वर को सच्चे मन से पुकार तब सर्वात्मा श्रीहरि गरूड़ पर आरूढ़ होकर अत्यन्त शीघ्रतापूर्वक आ पहुॅचे और गजेन्द्र की रक्षा की।

23. बुद्धावतार :-

इनकी जन्मतिथि बैशाखी पूर्णिमा को मानी गयी है । पुराणों में कल्किपुराण में इसका विस्तृत वर्णन मिलता है । पुराणों में इन पुराणों में इनके पिता को जिन या अजिन बताया गया है [2] तथागत के नाम से भी प्रसिद्ध थे इनका जन्म कपिलवस्तु में मायादेवी के गर्भ से हुआ था बौद्धग्रन्थों में इनके पिता का नाम शुद्धोदन बताया गया है । इनका धर्म अहिंसा को लेकर था । गया में इन्हें ज्ञान प्राप्त हुआ था । बुद्ध ने बौद्ध धर्म का प्रचार किया । कुशीनगर में इनका देहान्त हुआ और वर्तमान में वहाँ भव्य मन्दिर ओर भगवान वुद्ध की सोई हुई प्रतिमा विद्यमान है ।

24. कल्कि अवतार :-

कलिकाल के अन्त में जब घोर पापाचार और अनाचार फैल गया तथा वर्णाश्रम धर्म नष्ट हो गया, धर्म की मर्यादा विलुप्त हो गयी ।

---

1. नियुध्यतोरेवमिभेन्द्रनक्रयोर्विकर्षतोरुतरतो बहिर्मिथः ।
समाः सहस्रं व्यगमन, महीपते सप्राणयोश्चित्रममंसतामराः ।। (भा०पु०स्क०अष्टम अ-3)

2. ततः कलौ सम्प्रवृत्ते सम्मोहाय सुरद्विषाम ।
बुद्धो नामांजनसुतः कीकटेषु भविष्यति ।।
(भा०पु०स्क०प्रथम, अ०-3)

यज्ञ–दान,–तप–स्वाध्याय आदि सत्कर्मों का लोप हो गया, तब देवता दुःखी होकर भगवान नारायण के पास पहुँचे और उन्हं भूमण्डल की दुर्दशा बतलायी तब भगवान, नारायण ने सम्वलग्राम में अवतार ग्रहण कर कलि अधर्म का विनाश तथा सत्ययुग की की स्थापना की ।[1]

विश्वरूप ईश्वरः–

भागवतपुराण के अनुसार भगवान कृष्ण ने माता को अपने मुख में आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथ्वी, दिशा, सूर्य, चन्द्र, समुद्र द्वीप पर्वत, नदियॉ सब स्थावर जगंम भूतों को दिखाया ।[2] परमात्मा के अवयवों के स्थान पर सम्पूर्ण लोकलोकान्तर की कल्पना की है । इस विराट रूप के सहस्रों पांव , जघांऐं , भुजाएं और मुख है। इसके सहस्रों मस्तक, कर्ण, आँख, नाक आदि हैं ।

इसी के अंश से देव, पशु, पक्षी ओर मानवादि प्राणी उत्पन्न होते हैं । इसके अंश से सनत्कुमार, वराह, नारद, नरनारायण, कपिल, दत्तात्रेय, यज्ञ ऋषभ वृथु, मत्स्य, कूर्म, धनवन्तरि आदि उत्पन्न हुए ।[3]

विष्णु पुराण में भी विश्वरूप का इस प्रकार से वर्णन आया है कि जो विष्णु का जलरूपी शरीर है, उससे पर्वतों और समुद्रों सहित पृथ्वी उत्पन्न हुई ।

---

1. अथासौ युगसध्यायां दस्युप्रायेष राजसु ।
जनिता विष्णुयशसोनांमना कल्किर्जगत्पतिः ।। (भा0पु0स्क0प्रथम–अ0–3)

2. खं रोदसि ज्योतिरनीकमाशाः सूर्येन्दुवह्निश्वसनाम्बुधीश्च् ।
द्वीपान्नगांस्तद्दुहितर्वनानि भतानि पानि स्थिरजंगमानि ।। (भा0पु0 स्क0 10 अ0–8)

3. ऋषयों मानवो देवा मनपुत्रा महोवसः ।
कलाः सर्वे हरेरेव सप्रजापतयस्त्रथा ।। (भा0पु0स्क01,अ0–3)

ज्योंतियाँ, भुवन, वन, पर्वत, दिशाऐं, नदियाँ, समुद्र यह सब विष्णु ही है ।[1] समस्त देवता , मनु, सप्तर्षि मनु के पुत्र , सब देवों का अधिपति इन्द्र ये सब विष्णु के अखण्डित विभूतियाँ है[2] जो अव्ययात्मा अन्न पकाने के लिए अग्निरूप हुआ हैं , जो पृथ्वी बन कर सब विश्व को धारण करता है , जो इन्द्रादि रूप से सम्पूर्ण अन्धकार का नाश करता है। जो श्वास–प्रश्वास बनकर सब प्राणियें में चेष्टा करता है जो जल और अग्नि बनकर सबकी तृप्ति करता है तथा जो आकाश रूप धारण कर सबकी स्थिति करता है। जो जगत् का सृष्टि स्थिति और संहार करता है। तथापि जो उत्पत्ति – स्थिति लय से पृथक वर्तमान हैं ।[3]

लिंग पुराण के अनुसार ईश्वर नित्य, अनित्य, निष्पाप, ब्रह्मा, ब्रह्मणस्पति, दिशा, विदिशा, प्रकृति, पुरूष, त्रिष्टप, जगती, अनुष्टप, सत्य, शान्त, त्रेताग्नि, गुरू, गो, तेज, जल , ऋग्वेद , यर्जुवेद , सामवेद , अथर्ववेद , इतिहास पुराण ,, कल्प तथा क्षर ,अक्षर , ज्योति , तम , विष्णु , महेश्वर , बुद्धि , अहंकार , तन्मात्रा

---

1. पदम्बु वैष्णवः कायस्ततों विप्र वसुन्धरा ।
पंचाकारा समुद्रभूता पव्रताब्ध्यादिसंयुता ।।
ज्योतिषि विष्णुर्भुवनानि विष्णुव्रनानि विष्णुर्गिरयों विशंश्च ।
नद्यः समुद्राक्ष स एवं सव्र यदस्ति यन्नास्ति च विप्रवर्य ।। (वि0पु0अ0–1, अ012)

2. सर्वे च देवा मनवः समस्ताः सप्तर्षयो ये मनुसूनवश्र ।
इन्द्रश्च योऽयं त्रिदशेशभूतः विष्णोरशेषासतु विभूतयस्ताः।। (वि0पु0अं02,अ0 1)

3. पाकाय योऽग्नित्वमुपैति लोकान्विभर्ति पृथ्वी व पुख्ययात्यात्मा।
शक्रादिरूपी परिपाति विश्वमर्केन्दरूप्श्च तमो हिनस्ति।।
करोति चेष्टाः श्वसन स्वरूपी लोकस्य तृप्ति च जलभरूपी। (वि0पु0अं04,अ0 1)

इन्द्रिय वही है। वह सर्वज्ञ है।[1]

सूर्य पुराण में भी विश्वरूप ईश्वर का वर्णन इसी प्रकार किया गया है कि सब विश्व एक ही प्रभु है , उसके नेत्र और मुख सब और हैं यह ईश्वर पृथ्वी , आप , तेज , वायु , आकाश , सूर्य चन्द्र में रहता है परन्तु पृथ्वी आप आदि उसे जानते नहीं जिसका स्वरूप पृथ्वी , आप , तेज , वायु , आकाश , सूर्य और चन्द्र है वह विश्वात्मा है। वह सहस्र मस्तक , सहस्र आकृति , सहस्रनयन , सहस्र चरण , सहस्र बाहुवाला यह विश्वात्मा है।[2]

शिवपुराण के अनुसार प्रत्येक पदार्थ में एक शक्ति रहती है , वह शक्ति महेश्वरी है , और वह पदार्थ महेश्वर है अर्थात वह परमात्मा ही अनेक रूपों मे विद्यमान होकर लीला कर रहा है।[3]

---

1. नित्योऽनित्योऽहमनधो ब्रह्माऽहं ब्राह्मणस्पतिः।
दिशश्र विदिशश्रह प्रकृतिश्र पुमानहम्।।
आपोऽहं भगवानीशस्तेजोऽहं वेदिरप्यहम्।
ऋग्वेदोऽहं यत्रुर्वेदः सामवेदोऽहमात्मभः।।
अर्थ्ववोऽहं मंत्रोडहं तथा चागिरसां वरः।।
(लि0पु0उप0वि0अं0 । 8)

2. विश्वतश्र क्षुरी शानस्त्रिशूली विश्वतोमुखः।
जनकः सर्वभूतानामेक एवं महेश्वरः।।
पृथ्व्यां तिष्ठति विभुः पृथ्वी वैति नैव तम्।
रूपं च पृथिवी यस्य तस्मै भूम्यात्मके नमः।।
(सू0पु0अ02)

3. यस्य यस्य पदार्थस्य या या शक्ति रूदाहृता ।
सासाविश्वेश्वरी देवी स स सर्वो महेश्वरः।। (शि0पु0अ05)

ऋग्वेद में भी इसी प्रकार का सहस्र वर्णन मिलता है कि वह विश्वरूप ईश्वर हजारों सिर, बाहु, सहस्र ऑख , सहस्र पांववाला यह नारायण पुरूष है। वह भूमि के चारों ओर फैला है। भूत वर्तमान और भविष्यकाल का सब रूप जो दीखता है वह उसी का रूप है [1] जो मनुष्यादि सहस्र प्राणी है उनके हजारो और लाखों सिंह, हाथ, पेट ओर पांव उसी प्रभु के अवयव होने से उसके हजारो और लाखों अवयव हैं इस विराट पुरूष की कल्पना इस प्रकार की गयी हैं ब्राह्मण इसका मुख्य, क्षत्रिय उसके बाहु, वैश्य इसके उरू और शूद्र इसके पांव है अर्थात परमेश्वर का मानवीय समाज में यह विश्वरूप है ।[2]

तैत्तिरीय उपनिषद में विश्वरूप ईश्वर का इस प्रकार दिग्दर्शन कराया है कि पृथ्वी अन्तरिक्ष, द्यो, दिशा, उपदिशा, अग्नि, वायु, आदित्य, चन्द्रमा, नक्षत्र, जल, औषधि, वनस्पति, आकाश और आत्मा ये विश्व के भूतों में और शरीर में प्राण, अपान, उदान, समान, चक्षु, श्रोत, मन, वाणी, त्वचा, अस्थि, मज्जा, ये सब रूप ओंकार के ही है । अर्थात यह सब ओंकारवाच्य ब्रह्म का ही विश्वरूप है । पदार्थ मिलकर ओंकार के वाच्य होते है ।[3] ओंकार ही ब्रह्म है अर्थात पृथित्यादि

---

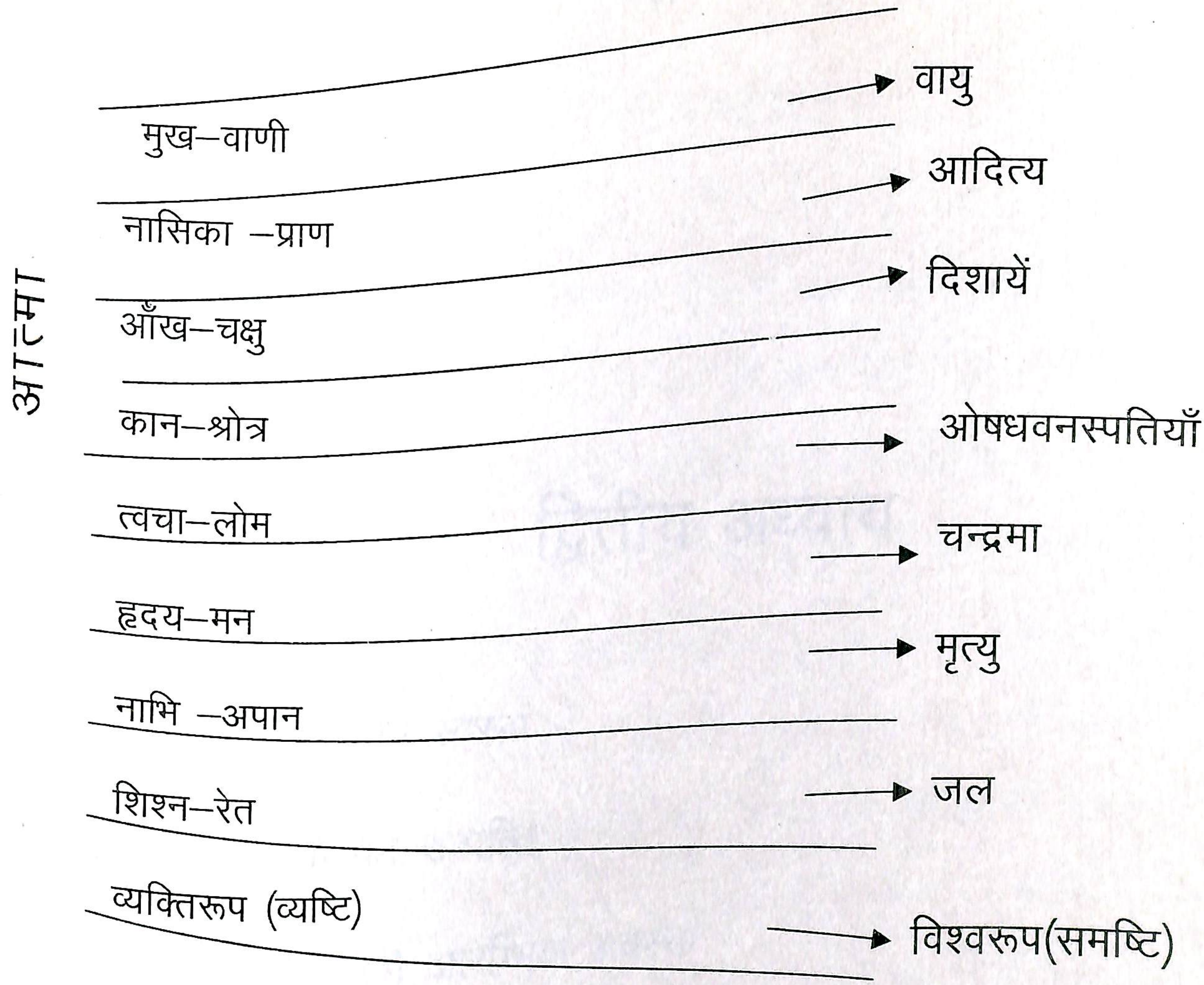
1. सहस्रशीर्षा पुरूषः सहस्राक्षः सहस्रपात्।
   स भूमिं विश्वतो शृत्वाऽत्यतिष्ठदशागलम्।।ऋ0 (10/90)
2. ब्रह्मणोऽसय मुखमासीद् बाहू राजन्यः कृत ।
   ऊरू तदस्य यद्वैश्यः पद्भायां शूद्रों अजायत ।। (ऋग्0वे0 10/90)
3. पृथिव्यन्तरिक्षं द्यौर्दिशोऽवान्तरदिशः ।
   अग्निवार्यरादिव्यश्चन्द्रमा नक्षत्राणि ।
   आप ओषधयो वनस्पतय आकाश आत्मा इत्यधिभूतम् ।
   प्राणों व्यानोऽपान उदानः समानः । चक्षुः श्रोत्र मनो वाक् त्वक् ।
   चर्म मासं स्नावास्थिमज्जा ।। (तै0 उप01/7)

जिससे ये सब भूत उत्पन्न होते हैं, जिससे ये जीवित रहने हैं और जिसमें ये जाकर मिल जाते हैं, वह ब्रह्म ही है ।[1]

ऐतरयोपनिषद् में प्रबल युक्ति के साथ इस विश्वरूपी परमात्मा का स्वरूप बताया गया हे । आत्मा प्रारम्भ में एक ही था, दूसरा कोई हिलने डुलनेवाला नहीं था । उस आत्मा ने सोचा कि मैं लोकों को उत्पन्न करूँ । उसके मुख से वाणी निकली ओर वाणी से अग्नि । नासिका बना नासिका से प्राण हुआ और प्राण से वायु का निर्माण हुआ । आँखें बनी, चक्षु से आदिव्य हुआ । दोनों कानों का निर्माण हुआ, कानों से श्रोत्र और श्रोत्र से दिशाऐं प्रकट हुई । त्वचा बन गई, त्वचा से लोम ओर लोमों से वनस्पति उत्पन्न हुई । हृदय बना, हृदय से मन ओर मन से चन्द्रमा हो गया। नाभि हुई, । हृदय बना, हृदय से मन ओर मन से चन्द्रमा हो गया । नाभि से अपान और अपान से मृत्यु हो गया । शिश्न निर्माण हुआ शिश्न से रेत और रेत से जल का निर्माण हो गया ।[2]

---

1. यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते ।
   येन जातानि जीवन्ति । तद् ब्रह्मेति ।। (तै0उप03 / 1)
2. आत्मा वा इदमेक एवाग्र असीन्नान्यत्किंचन भिषत् स ईक्षत लोकान्नु सृजा इति । तस्याभितप्स्य मुखं निरभिद्यत यथाण्डं, मुखाद्वाक् वाचों अग्निः । नासिके निरभिद्येतां, नासिकाभ्यां प्राणः प्राणाद्वायु। अक्षिणी निरभिद्येतां, अक्षीभ्यां चक्षुः चक्षुष आदित्यः कर्णों निरभिद्येतां, कर्णाभ्यां श्रोंत्रं श्रोत्रादिशः ।(ए0उप0 1 / 14)


आत्मा
मुख–वाणी
नासिका –प्राण
आँख–चक्षु
कान–श्रोत्र
त्वचा–लोम
हृदय–मन
नाभि –अपान
शिश्न–रेत
व्यक्तिरूप (व्यष्टि)
वायु
आदित्य
दिशायें
ओषधवनस्पतियाँ
चन्द्रमा
मृत्यु
जल
विश्वरूप(समष्टि)

द्वितीय अध्याय

1. सृष्टि का स्वरूप
2. ब्रह्मा की उत्पत्ति
3. सृष्टि की आरम्भिक अवस्था
4. हिरण्यगर्भ और सृष्टि
5. विभिन्न प्रकार की सृष्टि
6. लोको का वर्णन
7. महाप्रलय का वर्णन
8. ईश्वरीय सृष्टि और मानवीय सृष्टि में अन्तर

द्वितीय अध्याय

1. प्रथम मानव ने जब सृष्टि में जन्म लिया तो उसने अत्यन्त आश्चर्य चकित होकर स्वंय से पूछा कि "मैं कौन हूँ।" यह समस्त सृष्टि जिसमें मेरा जन्म हुआ है कहाँ से आई ? इसे मैनें तो बनाया नहीं है क्योंकि मेरे इसमें उदय होने से पूर्व ही यह वर्तमान थी। मैंने स्वयं को भी नहीं बनाया। मैनें अपने को किसी भी अज्ञात विधि से इस सृष्टि में उत्पन्न पाया है। निश्चय ही मेरा और सृष्टि का रचनाकार भी कोई अवश्य होगा। बिना निर्माता के निर्माण कैसे सम्भव हो सकता है? फिर निर्माता स्वयं जड़ कदापि नहीं हो सकता है न क्रिया करने के लिए गतिमान हो सकता है, न रचना कर सकता है।
2. यह अपरिहार्य एवं स्वयं सिद्ध प्रतीत होता है कि जिसके कारण सृष्टि का जन्म हुआ। वह निश्चय पूर्ण चैतन्य और गतिशील सत्ता है।
3. वह ही प्रथम मूल तत्व होगा जिसके कारण यह सृष्टि अस्तित्व में आई।
4. यह सत्ता या अस्तित्व क्या है ? कौन है ? जिसके कारण सब कुछ अस्तित्व में आता है।

सृष्टि का स्वरूप :–

स्वाभाविक रूप से विचारशील मानव के मन में जिज्ञासा उठती है कि यह सृष्टि क्या है? जिसमें हमारा शरीर स्थित है?

हम एक मकान में जो एक जमीन के टुकडे पर बना है, यह जमीन पृथ्वी का नगण्य भाग है। इस मकान की भूमि की तुलना में पृथ्वी अनन्त गुने आकार की है। यह पृथ्वी भी सौर मण्डल का एक बहुत शुद्र अशं है और यह सौर मण्डल भी इस आकाश–गंगा का एक छोटा भाग है और यह आकाश गंगा भी इस ब्रह्माण्ड का अत्यन्त लघु अंश है ऐसे कोटि–कोटि ब्रह्ममाण्ड हैं। कितने हैं, अभी तक कोई नही जान पाया। यदि एक मानव जिसको प्रत्येक जन्म में सैकडो करोड़ वर्ष आयु मिले और सैंकड़ो करोड़ों जन्म धारण करे और अनन्त वर्ष में इस सृष्टि को केवल देखना ही चाहे अर्थात एक छोर से दूसरे छोर तक दृष्टि ही डालना चाहे , तब भी वह अपने को पूर्ण असमर्थ पाएगा। यह तो सृष्टि की विशालता का वर्णन है।

इस सृष्टि की विभिन्नताओं और समानताओं को अनुपम और वैविध्यपूर्ण रूपों को देखकर मानव बुद्धि ठगी–सी रह जाती है। कितने प्रकार के नदी, पर्वत, मैदान, ज्वालामुखी, वन–उपवन, वनस्पति, पशु–पक्षी, जलचर और मानव आदि है, केवल इसी पृथ्वी पर अनन्त प्रकार के पत्थर, चट्टानें, पर्वत, नदी, जलाशय, वन–उपवन और इतने अनन्त प्रकार के प्राणी स्थित हैं कि गणना करना भी सम्भव नहीं । उनके रूप, गुण स्वभाव की नापतोल तो कौन कर सकता है ? रेत के अनन्त–अनन्त कण, घास, पत्र–पुष्पों में दो भी एक से नहीं को सकते ।

एक और अन्तहीन असीम सृष्टि है और दूसरी और यह मानव, जिसकी बुद्धि इस अनन्त–अनन्त सीमा रहित असीमता का कौनसा अंश होगी । यह सृष्टि कैसे बनी? इसे किसने बनाया? इसके लिए पदार्थ कहाँ से आया? कितने प्रश्न है। इसलिए मानव कितने ही वर्षों तक अपने मस्तिष्क को विचारों में उलझाकर व्यायाम करवाता रहा और करवाता रहेगा ।

सृष्टि का वैविध्य, वैचित्र्य, विस्तार और विशालता अनन्त हैं । यह निःसन्देह है, किन्तु यह बुद्धि को मानने को विवश भी करता है कि कुछ है, जो उसके ऊपर है–कुछ है जो इस ज्ञान का स्वामी है– कोई है, जो इस सृष्टि का मालिक है ।

ईश्वर सृष्टि का रचयिता भी है और साथ ही अकर्ता भी । वह सृष्टि से परे भी है और सृष्टि में व्यक्त भी । वह समस्त सूक्ष्म एवं स्थूल–प्रकृति का संचालक, नियामक और नियन्ता भी है और वह स्वयं कभी उस अवस्था में सम्मिलित नहीं होता । ईश्वर केवल प्रतीत होता है । उपस्थिति के कारण ही प्रकृति सृष्टि की रचना करती है । उसकी धारणा शक्ति से ही सब ब्रह्माण्ड और चराचर जीव उसमें मणि–माणिक्य की तरह धारित है । इसी को ईश्वर का सृष्टि में अवतरित होना भी कहा गया है । यदि वह उसमें व्यक्त न हो तो सृष्टि गतिमान नहीं होगी ।

1. ब्रह्मा जी की उत्पत्ति :–

कूर्म पुराणानुसार भगवान् नारायण देवस्वरूप में पूर्वकाल में विद्यमान थे और उनके अतिरिक्त कोई दूसरा न था । योगनिद्रा का आश्रय लेकर शेषशैय्या में पडे थे।[1] रात्रि के व्यतीत हो जाने पर जागकर वह नारायण पुनः सृष्टि के विषय में चिन्तन करने लगे । उन्हें जब सष्टि की रचना की इच्छा हुई, उसी समय एक पद्य निकला, जिससे चतुर्मुख ब्रह्मा प्रादुर्भूत हुए ।[2]

श्रीमदभगवत पुराण में भी इसी प्रकार का वर्णन मिलता है कि सृष्टि से पूर्व यह विश्व जल में डूबा हुआ था । उस समय श्री नारायण देव शेषशैय्या पर योगनिद्रा का आश्रय लेकर लेटे हुए थे । सृष्टिकर्म से अवकाश लेकर आत्मानन्द में निमग्न थे । उनमें कुछ भी किसी भी किया का उन्मेष नहीं था ।[3] जिस प्रकार अग्नि अपनी दाह आदि शक्तियों को छिपाये हुए लकड़ी में विद्यमान रहता है, उसी प्रकार भगवन् ने सम्पूर्ण प्राणियों के सूक्ष्म शरीरों को अपने शरीर में लीन किये हुये अपने आधार भूत उस जल में शयन किया । उन्होंने सृष्टिकाल आने पर पुनः जगाने के लिए चिद्शक्ति को जाग्रत रखा है।[4]

---

1. अहं नारायणें देवः पूवमासं न में परम् ।
उपसाय विपुलां निद्रां भोगिशय्यां समाश्रितः ।।
– कू0पु0पू0वि0अ0 2
2. चिन्तयामि पुनः सृष्टिं निशान्ते प्रतिबुध्य तु ।
ततो में सहसोत्पनः प्रसादो मुनिपुंगवाः ।।
– कू0पु0पू0वि0अ0 2
3. उदाप्लुतं विश्वमिदं तदाऽऽसीद् यन्निद्रयामीलितदृड. न्यमीलयत् ।
अहीन्द्रतल्पेऽधिशयान एकः कृतक्षणः स्वात्मरतौ निरीहः ।।
– भा0पु0स्क0तृतीय अ0 8
4. सोऽन्तशरीरेऽर्पितभूतसूक्ष्मः कालात्मिकां शक्तिमुदीरयाणः ।
उवास तस्मिन् सलिले पदे स्वे यथानलो दारूणि रूद्धवीर्यः ।।
– भा0पु0स्क0तृतीय अ0 8

समय आने पर उस शक्ति ने जीवों के कर्मों की प्रवृति के लिये प्रेरित किया । भगवान् . की दृष्टि अपने ही निहित लिंगशरीरादि सूक्ष्मतत्व पर पडी तब वह कालाश्रित रजोगुण से क्षुभित होकर सृष्टि रचना के निमित उनके नाभिमण्डल से बाहर निकला ।[1]

सम्पूर्ण गुणों को प्रकाशित करने वाले उस सर्वलोकमय कमल में वे स्वयं ही अन्तर्यामी रूप से प्रविष्ट हो गये । तब उसमें से सम्पूर्ण वेदों को जानने वाले साक्षात् वेदमूर्ति ब्रह्मा प्रकट हुए । जिन्हें स्वयम्भू भी कहते हैं ।

मत्स्य पुराण में भी इसी प्रकार का कथन है । महाप्रलय के समय का अवसान होने पर यह चराचर जगत् सोये हुए की भाँति अन्धकार से आच्छन्न था।[2] भगवान समस्त जगत् को प्रकट करने अन्धकार का भेदन करके प्रादुर्भूत हुए। इस समय जो इन्द्रियों से परे, परात्पर, सूक्ष्म से भी सूक्ष्म, महान से महान, अविनाशी और नारायण नाम से विख्यात है। वे स्वयं अकेले ही आविर्भूत हुए ।[3]

---

1. तस्यार्थसूक्ष्माभिनिविष्टदृष्ठेरन्तर्गतोऽर्थो रजसातनीयान ।
   गुणेन कालानुगतेन विद्धः सूष्यंस्तदाभिद्यत नाभिदेशात् ।।
   — भा0पु0स्क0तृतीय अ0 8
2. महाप्रलयकालान्त एतदासीत् तमोमयम् ।
   अविज्ञेयमविज्ञातं जगत् स्थास्तु चरिष्णु च।।
   — (म0पु0अ03)
3. योऽतीन्द्रियः परो व्यक्तादणुर्ज्यायान सनातनः ।
   यः शरीरादभिध्याय सिसुक्षुर्विविधं जगत् ।।
   — (म0पु0अ03)

ब्रह्मा पुराण के अनुसार वह पुरूष पर, अव्यक्त और अक्षर है और इसमें क्षर (नष्ट होनेवाला) और प्रकृति समन्वित है ।[1] उस निराकार पर ब्रह्म से अवयवों सहित (कार्य ब्रह्म) उत्पन्न हुआ । पुरूष से कमल और कमल से ब्रह्म की उत्पत्ति हुई ।[2]

सृष्टि की आरम्भिक अवस्था :

प्रलयकाल के समय न दिन था, न रात थी, न आकाश था, न पृथ्वी थी, न अन्धकार था, न प्रकाश था ओर न इनके अतिरिक्त कुछ और था । इन्द्रियों और बृद्धि आदि का अबिषयक वह ब्रह्मम ही था ।[3] यह समस्त दृश्यमान जगत् अपने साक्षी चेतन्य आत्मा के साथ अचेत अवस्था में सोया हुआ पड़ा था । वह ब्रह्मा की रात्रि थी। जैसे गहरी निद्रा (सुषुप्ति) में सोये हुए मनुष्य की जब आँख खुलती है, तब सबसे पहले उसे थोड़ा–थोड़ा ज्ञान होता है, अधखुली आँखों से वह यह देखने लगता है कि मैं हूँ और मैंने खूब आनन्द की नींद ली, इसी प्रकार ब्रह्म को चेतनावस्था आई उसको अपने अस्तित्व का थोडा–सा बोध हुआ। इस अवस्था का नाम 'महत्तत्व' है कि जो सृष्टि के आरम्भ में सबसे प्रथम उत्पन्न हुई ।

---

1. अपरश्च क्षरस्तस्मात्प्रकृव्यन्वित एव च ।
   निराकारात्मावयवः पुरूषः समजायत ।।
   (ब्र0पु0अ0 4)
2. तस्मादापः समुद्भूता अदृश्यश्च पुरूषस्तथा ।
   ताभ्यामाजं समुद्भूतं तत्राहमभवं मुने ।।
   (ब्र0पु0अ0 4)
3. नाहो न रात्रिर्न नभो न भूमिर्नासीत्तमोज्योतिरभूच्च नान्यत् ।
   श्रोत्रादिबुद्धयानुपलभ्यमेकं प्राधनिकं ब्रह्म पुमांस्तदासीत् ।।
   (वि0पु0अं0 प्रथम अ0 2)

उस समय ब्रह्मा अकेला ही था, जिस प्रकार सोने वाले मनुष्य की मन–बुद्धि और इन्द्रियों की सारी शक्तियाँ निद्रा आते ही सीमित कर उसके अन्दर समा जाती है, इसी प्रकार महाप्रलय रूपी रात्रि में ब्रह्मा की सम्पूर्ण दिव्य शक्तियॉ उसी के भीतर लय हो गयी थी । पता नहीं चलता था कि वह समस्त प्राणी कहाँ चले गये । यह पृथ्वी इत्यादि लोक लोकान्तर, यह मिट्‌टी, जल–वायु इत्यादि पंचभूत किसमें विलीन हो गये । यह उस समय (महाप्रलय) की अवस्था थी ।

ब्रह्मा ने स्वभावानुकूल चिन्तन किया कि 'यथा पूर्वकल्पयत्' कुछ कार्य करना चाहिए। उसने अपनी सोई हुई शक्तियों को एक धक्का दिया और वह दो धार होकर उसके अन्दर से फूट निकली । यह महद् शक्तिशालिनी दोनों धारायें बाहर आकर अपना–अपना कार्य करने लगी । ब्रह्माण्ड के छिन्न–भिन्न अथवा बिखरे हुए परमाणुओं के ऊपर इन दोनों शक्तियों का प्रयोग प्रारम्भ हुआ। एक फैला रही थी और दूसरी समेट रही थी, ब्रह्मादेव, अलग बैठे हुए ये सब देख रहे थे । कार्य में कुछ कमी दिखाई देती तो थोड़ा बल लगा देते ।

विष्णु पुराण में भी इसी प्रकार का उल्लेख मिलता है कि उस परमात्मा ने प्रधान और पुरूष को प्रेरित किया, तथा संकोच और विकास रूपी शक्तियों से युक्त होकर सृष्टि चलायमान होने लगी ।[1] महत्तत्तव की उत्पत्ति के पश्चात् उसके तीन भेद हुए । सात्विक, राजसिक और तामसिक । जिस प्रकार बीज

---

1. स एव लोभको ब्रह्मन् क्षोभ्यश्र पुरूषोत्तमः ।
स सकोंचविकासभ्यां प्रधानत्वेऽपि च स्थितः ।।
(विपु0अं0 प्रथम, अ02)

छिलके से समभाव से ढका रहता है , उसी प्रकार यह त्रिविध महत्तत्तव प्रधान तत्व के सब और आच्छादित है ।[1] इसी से त्रिगुणात्मक अहंकार उत्पन्न हुआ । भूतादि नामक तामस अहंकार ने विकृत होकर तन्मात्राओं को जन्म दिया ।[2] शब्द तन्मात्रा से आकाश तत्व को व्याप्त किया । आकाश तत्व को मथ कर उसमें वायु उतपन्न कर दी । इस प्रकार वायु ने अब अपना एक सरकिल बनाया । यह स्पर्शतन्मात्रा वाला वायु आकाश का ही दूसरा रूप है । फिर वायु ने विकृत होकर रूपतन्मात्रा की उत्पत्ति की और रूपतन्मात्रा से अग्नि की सृष्टि हुई अर्थात प्राण और अपान शक्तियों ने मैथुन कर और वहाँ के परमाणुओं को टक्कर देकर, अग्नि तत्व को उत्पन्न कर दिया ।[3] अग्नि वायु की ही बदली हुई दूसरी शकल है । (रूपतन्मात्रा) तेज ने विकृत होकर रस तन्मात्रा की रचना की । उससे रसगुणवाला जल हुआ ।[4]

---

1. सात्तिवको राजसश्रव तामसश्र त्रिधा महान् ।
प्रधानतत्वेन समं त्वचा बीजमिवावृतम् ।।
(विपु0अं0 प्रथम, अ02)

2 भूतादिस्तु विकुर्वाणः शब्दतन्मात्रकं ततः ।
ससर्ज शब्दतन्मात्रादाकाशं शब्दलक्षण् ।।
(विपु0अं0 प्रथम, अ02)

3. स्पर्शमात्रं ठ वै वायु रूपमात्रं समावृणोत् ।
ज्योतिश्रापि विकुर्वाणं रसमांत्र समावृणोता ।।
– (वि0पु0अं0 प्रथम अ02)

4. सम्भवन्ति ततोऽम्भांसि रसाधराणि तानि च ।
रसमात्राणि चाम्भांसि रूपमात्रं समावृणोत् ।।
– (वि0पु0अं0 प्रथम अ02)

जिनमें अग्नि के परमाणु सत् और तम शक्तियों के सहारे आपस में टकराते, मिलते–जुलते और मैथुन करते हुए जल का रूप धारण कर लेते हैं । यह जल अग्नि का ही दूसरा रूप है । (रसतन्मात्रा) जल ने विकार को प्राप्त होकर गन्ध तन्मात्रा की सृष्टि की, और उससे पृथ्वी उत्पन्न हुई ।[1]

मत्सय पुराण में भी इसी प्रकार का कथन है कि प्रधान के विकृत होने पर उससे महत्तत्व की उत्पत्ति होती है ।[2] महत्तव से अहंकार उत्पन्न होता है और उस अहंकार से पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ और पाँच कर्मेन्द्रियाँ आविर्भूत होती है ।[3] इन इन्द्रियों के सूक्ष्म अवयवों को ही तन्मात्रा कहते हैं । उस समय सृष्टि की इच्छा से शब्दतन्मात्रा से शब्द गुणवाला आकाश प्रकट होता है ।[4] इसी आकाश में विकार होने पर वायु की उत्पत्ति होती है ।[5]

---

1. विकुर्वाणानि चाम्भांसि गन्धमांत्रं ससर्जिरे ।
सङघातो जायते तस्मात्तस्य गन्धों गुणो मतः ।।
– (वि0पु0अं0 प्रथम अ02)

2. सविकारात् प्रधानात्तु महत्तत्तव प्रजायते ।
– (वि0पु0अं0 प्रथम अ02)

3. इन्द्रियाणि ततः पंच वक्ष्ये बुद्धिवशानितु ।
प्रादुर्भवन्ति चान्यानि तथा कर्मवशानि तु ।।
– (वि0पु0अं0 प्रथम अ02)

4. आकाशं शब्दतन्मात्रादभूच्छद्वबुणात्मकम् ।।
– (वि0पु0अं0 प्रथम अ02)

5. आकाशविकृतेर्वायुः शब्दस्पर्शगुणोऽभवत् ।
वायोश्र स्पर्शतन्मात्रा वेजश्रविर भूततः ।।
– (वि0पु0अं0 प्रथम अ02)

तत्पश्चात वायु (स्पर्शतन्मात्रा) में विकार उत्पन्न होने पर जल का प्राकट्य होता है । रसतन्मात्रा से उद्भूत होने से रसगुण प्रधान होता है । इसके पश्चात् पाँचों गुणों से सम्पन्न पृथ्वी का प्रादुर्भाव होता है । वह प्रायः गन्ध गुण से युक्त रहती है ।[1]

अग्नि पुराण में भी इसी प्रकार का वर्णन आया है कि सर्वप्रथम सत्स्वरूप ब्रह्म ही थे उस समय न आकाश था, न रात्रि थी और न दिन था।[2] तत्पश्चात् भगवान् ने प्रकृति के भीतर प्रविष्ट होकर उसको क्षोवित किया सृष्टि के समय सर्वप्रथम अव्यक्त प्रकृति से महत्तत्व हुआ । महत्तत्व से अहंकार हुआ और अहंकार के तीन भेद वैकारिक (सात्विक) तैजस (राजस) और भूतादि (तामस) है।[3] तामस अहंकार से शब्दतन्मात्रा फिर शब्द तन्मात्रा से आकाश उत्पन्न हुआ ।[4] फिर स्पर्शतन्मात्रा से वायु और रूपतन्मात्रा से अग्नि उत्पन्न हुआ। रसतन्मात्रा से जल और गन्धतन्मात्रा से पृथ्वी उत्पन्न हुई ।[5]

---

1. रसतन्मात्रासम्भूत प्रायों रसगुणात्मकम् ।
   भूमिस्तु गन्धतन्मात्राद्भूत् पंचगुणान्विता । (म0पु0अ0 17)
2. ब्रह्माव्यक्तं सदग्रेऽभूभखं रात्रिादिनादिकम् ।
   प्रकृति पुरूषं विष्णुं प्रविश्याक्षोभयत्ततः ।। (अ0पु0अ0 17)
3. सर्गकाले महत्तत्व बमहकांरस्ततोऽ भवत ।
   वैकारिकस्तैजसश्च भूतादिश्चैव तामसः ।। (अ0पु0अ0 17)
4. अहंकाराच्छब्दमात्रमाकाशमभवततः ।
   स्पर्शमात्रांऽनिलस्तस्माद्रूपमात्रोऽनलस्ततः ।। (अ0पु0अ0 17)
5. रसतन्मात्रा आपा इतो गन्धमात्रा धरित्र्यभूत् ।(अ0पु0अ0 17)

कूर्णपुराण में भी इसी कथन की समानता मिलती है कि उस पुरूष के आत्मस्वरूप में स्थित होने के कारण और गुणों में साम्यावस्था होने पर सृष्टि नहीं हुई थी ।[1] यह ब्रह्म की रात्रि कही गई है और सृष्टि ब्रह्मा का दिन कहा गया है। वास्तव में उसका न दिन होता है और न रात होती है ।[2] वह जगत् का आदिकारण रात्रि के व्यतीत होने पर जाग्रत हुआ । उसने प्रकृति और पुरूष में शीघ्र प्रविष्ट होकर गति उत्पन्न की ।[3] सर्वप्रथम महत्तत्व से समस्त प्राणियों की सृष्टि का आदि कारण–वैकारिक, तैजस तामस, यह तीन प्रकार के अहंकार उत्पन्न हुआ ।[4] इसी अहंकार से पांच महाभूत पृथ्वी, जल, तेज, वायु तथा आकाश, पाँच तन्मात्राएँ शब्द, स्पर्श, रूप, रस तथा गन्ध, सभी इन्दियाँ और उन इन्द्रियों के अधिष्ठाता देवता उत्पन्न हुए ।[5]

---

1. गुणसाम्ये तदा तस्मिन् पुरूषे चात्मनि स्थिते ।
   प्राकृतः प्रलयों ज्ञयो यावद् विश्वसमुदव ।। कू0पु0पू0वि0अ0 4
2. ब्रह्मी रात्रिरियं प्रोक्ता अहः सृष्टिरूदाहृता ।
   अहर्न विद्यते यतस्य न रात्रिाहययययर्युपचारत ।। कू0पु0पू0वि0अ0 4
3. प्रकृतिं पुरूष चैव प्रविश्याशु महेश्वरः ।
   क्षोभयामास योगेन परेण परमेश्वरः ।। कू0पु0पू0वि0अ0 4
4. वैकारिकस्तैजसश्र भूतादिश्वचैव तामस : ।
   त्रिविधोऽयमयंहकारो महतः सम्बभूव ह : ।।
   कू0पु0पू0वि0अ0 4
5 पंचभूतान्ययहंकारात् तन्मात्राणि च जज्ञिरे ।
   इन्द्रियाणि तथा देवाः सर्व तस्यात्मज जगत् ।।
   कू0पु0पू0वि0अ0 4

श्रीमदभागवत पुराण में भी इसी प्रकार का उल्लेख प्राप्त होता है कि भगवान् की दृष्टि महत्तत्व के ऊपर पडने पर, इस विश्व की रचना के लिए अपना रूपान्तर किया ।[1] उस महत्तत्व के विकृत होने पर अंहकार की उत्पत्ति हुई । यह अहंकार सात्विक, राजसिक और तामसिक भेद से तीन प्रकार का है।[2] अहंकार से सूक्ष्म भूतों का कारण शब्दतन्मात्रा हुआ। शब्दतन्मात्रा के विकृत होने पर आकाश की उत्पत्ति हुई । फिर स्पर्शतन्मात्रा के विकृत होने पर वायु की उत्पत्ति हुई । तत्पश्चात् रूपतन्मात्रा से संसार का प्रकाशक तेज उत्पन्न हुआ ।[3] रसतन्मात्रा के कार्य जल को उत्पन्न किया । सबसे अन्त में गन्धतन्मात्रा से पृथ्वी उत्पन्न हुई।[4] ब्रह्म पुराण के अनुसार भी सर्वप्रथम महत्तत्व से अहंकार उत्पन्न हुआ । अहंकार से पंचमहाभूत और उनसे उनके अनेक भेद उत्पन्न हुए यही सनातन सृष्टि है ।[5]

---

1 साऽप्यंशगुणकालात्मा भगद्दृष्टिगोचरः ।
आत्मानं व्यकरोदात्मा विश्वस्यास्य सिसृक्षया ।।
भा0पु0स्क0तृतीयअ 05

2 अहंतत्वाद्विकुर्वाणान्मनों वैकारिकादभूत् ।
भा0पु0स्क0तृतीयअ 05

3. अनिलोऽपि विकुर्वाणों नभसोरूबलान्वितः ।
ससर्ज रूपनन्मात्रं ज्योतिर्लोकस्य लोचनम् ।।
भा0पु0स्क0तृतीयअ 05

4. मही गन्धगुणामाधात्कालमायांशयोगतः ।
भा0पु0स्क0तृतीयअ 05

5. अहकारस्तु महतस्तस्माद्भूतानि जज्ञिरे ।
भूतभेदाश्च भूतेभ्य इति सर्ग : सनातनः ।।
ब्र0पु0अ0 1

बृहन्नारदीय पुराण के अनुसार जिससे समस्त भूत उत्पन्न हुए हैं और जिससे सारे प्राणी नष्ट भी होते है । उस देव ने सर्वप्रथम नाम (शब्द) से महान् तत्व को उत्पन्न किया।[1] वह समस्त भूतों को धारण करने वाला समर्थ 'आकाश' नाम से प्रसिद्ध है । आकाश से जल, जल से अग्नि और अग्नि से वायु उत्पन्न हुए ।[2] त्पश्चात् अग्नि और वायु पृथ्वी उत्पन्न हुई । स्वयम्भ् ने पुनः एक तजोमय दिव्य कमल को उत्पन्न किया ।[3] इस पद्म से वेदमय ब्रह्मा उत्पन्न हुए । समस्त भूतों का उत्पादक 'अहंकार' भी उसका नाम है ।[4] सब पर्वत उस विराट् की हड्डियाँ है, समुद्र उसका रक्त और आकाश उदर है, पवन और तेज उस देव का निश्वास है[5] , नदियाँ उसकी नाडियाँ हैं, चन्द्र और सूर्य उसके नेत्र हैं, पृथ्वी उसके चरण और भुजायें हैं ।[6]

1. यतः सृष्टानिभूतानि जायते च म्रियंति च ।
सोऽसृजत्प्रथम देवों महातनाम नामतः ।।
(बृहन्ना0 पु0 अ0 42)
2. आकाशमितिविरख्यातं सर्वभूतधरः प्रभुः ।
आकाशादभवद्वारि सलिलादग्निमारूतौ ।।
(बृहन्ना0 पु0 अ0 42)
3. अग्निमारूतसंयोगात्तः सममवन्मही ।
ततस्तेजोमंय दिव्यं पद्मं सृष्टं स्वयंभुवा ।।
(बृहन्ना0 पु0 अ0 42)
4. तर्स्मापद्मात्सम्भवद्ब्रह्मावेदमयों विधिः ।
अहंकारइतिख्यातः सर्वभूतात्मभूतकृत् ।।
(बृहन्ना0 पु0 अ0 42)
5. समुद्रास्तस्य रूधिरमाकाशमुदरंतथा ।
पवनश्चैव निश्वासतेजोऽग्निम्निगाः शिराः ।।
(बृहन्ना0 पु0 अ0 42)
6. अग्नितषोमो च चन्द्रार्कौ नयने तस्य विश्रुते ।
नभश्चोर्ध्वशिरतस्य क्षितिः पादौभुजौ दिशः ।।
(बृहन्ना0 पु0 अ0 42)

मार्कण्डेय पुराण के अनुसार जगत् के कारण कमलयोनि पितामह स्वरूप से जो इस संसार की उत्पन्न करते हैं, विष्णुरूप से स्थित करते और रोद्र रूप से प्रलयकाल में संहार करते हैं । ब्रह्मा जी के उत्पन्न होने पर उनके चार मुखों से चार वेद पुराण प्रकट हुए । वही प्रलय के पश्चात् अखिल विश्व की रचना करते हैं । रचना के समय प्रधान तत्व प्रकट होकर महत्तत्व से ढका रहता है । जैसे बीज त्वचा से ढका रहता है । वैसे ही प्रधान से महत्तत्व ढका रहता है । वह महत्तत्व सात्विक, राजसिक, तामसिक के भेद से तीन प्रकार का है । उस महत्तत्व से अहंकार उत्पन्न होता है ।[1] तामस अंहंकार से भूत आदि संज्ञक है जिस प्रधान तत्व से महत्तत्व ढका है उसी प्रकार महत्तत्व से अहँकार ढका है । इसी प्रभाव से विकार को प्राप्त होकर शब्दतन्मात्रा की सृष्टि होती है । शब्दात्मक आकाश इस शब्द तन्मात्र से ही प्रकट होता है तब तामस अहंकार से शब्द रूप आकाश ढक जाता है, इससे स्पर्श तन्मात्र की उत्पत्ति होती है । तब स्पर्श गुण वाला अत्यन्त बलवान् वायु उत्पन्न होता है ।[2]

---

1. गुणभावात्सृज्यमानात्सर्गकालेत्ततः पुनः ।
प्रधानतत्तभुर्द्भूतंमहान्तंतत्समावृणीत् ।।
ततस्तस्मादंहकंरस्त्रिविधोवैत्यजायत् ।
वैकारिस्तैजसश्चभूत दिश्चसतामसः ।।
मार्क पु0अ0 37

2. ससर्जशब्दमात्रादाकाशशब्दह्नणम् ।
आकाशंशब्दमात्रान्तुभूतादिश्चावृणोत्त ।।
स्पर्शतन्मात्रमेवेह जायेतेनात्रसंशयः ।
बलवांजायते वायुस्तस्यस्पर्शगुणोत्तम् ।।
मार्क पु0अ0 37

शब्दतन्मात्र आकाश से स्पर्शमात्र ढका रहता है । इससे वायु के विकृत होने से रूप तन्मात्र की उत्पत्ति होती है, वायु से रूप गुणात्मक ज्योति प्रकट हुई। स्पर्श तन्मात्र वायु से रूपतन्मात्र ढका रहता है, इससमें ज्योति के विकृत होने पर रसतन्मात्र की उत्पत्ति होती है । इसी के द्वारा रसात्मक जल उत्पन्न होता है । जो रूपतन्मात्र से ढका रहता है।[1] फिर रसतन्मात्र जल की विकृति से गन्धतन्मात्र की उत्पत्ति होती है । उसी से गन्धामिक्का पृथ्वी उत्पन्न होती है ।[2] इसी प्रकार जिस जिस पदार्थ में जो तन्मात्र है, उस उस के द्वारा तन्मात्रा की गणना होती है ।

इस प्रकार भूत तन्मात्र की अहंकार से उत्पत्ति होती है । सात्विक ओर वैकारिक अहंकार से सृष्टि की प्रवृत्ति है । पंच ज्ञानेन्द्रिय और पंच कर्मोन्द्रिय तैजस इन्द्रिय कही गयी है, यह वैकारिक दस देवता होते है । ग्यारहवॉ मन मिलाकर ग्यारह देवता हुए । श्रोत, चक्षु, त्वक, रसना और नासिका इनसे शब्दादि को बोध होता है, इसलिए इन्हें बुद्धीन्दिय कहा गया है । चरण, गुदा, उपस्थ, हाथ, जिव्हा इत्यादि कर्मेन्द्रिय कही गयी है जिनके कार्य चलना, मल त्यागना, मैथुन, शिल्प और कथन है ।

---

1. वायुश्चापिविर्कुर्वाणोरूपमात्रससर्जह ।
   ज्योतिरूत्पद्यते वायोस्तद्रपगणमुच्यते ।।
   स्पर्शमात्रस्तवैवायुरूपमात्र समावृणेत ।
   ज्योतिश्चापिविकुर्वाणरसमात्र ससर्जह ।।
   मार्क0 पु0अ0 37
2. शब्दरूपज्ञश्चरूपंचरसमात्रंसमाविशत् ।
   संहतागन्ध्मात्रेत्रआवृष्यस्तेमहीमिमाम ।।
   मार्क0 पु0अ0 37

शब्दतन्मात्र से आकाश, स्पर्शतन्मात्र से समष्टि होकर द्विगुण वायु को उत्पन्न करता है । उसका विशेष गुण वायु, शब्द, स्पर्श यह दोनों गुण रूप में समष्टि होकर त्रिगुण अग्नि की उत्पत्ति करते हैं । यह अग्नि शब्द और रूप गुण से युक्त है । शब्द, स्पर्श, रूप और रस के गन्धमात्र के समावेश से उसके साथ मिलकर इस पृथ्वी की आवृत्ति करते हैं, इसलिए भूतों में पंचगुणात्मिका स्थूलाकार वाली पृथ्वी दिखाई देती है । इसी कारण वह भूत घोर, शान्त और मूढ कहे गये हैं , वह परस्पर एक दूसरे को धारण करते हैं।[1] पहले–पहले गुण उत्तरोत्तर में प्रवृष्टि होते है । जब तक यह अनेक वीर्यवाले सात पदार्थ परस्पर नहीं मिलते, तब तक परस्पर सृष्टि करने में समर्थ होते, जब यह मिलकर एक–दूसरे के अवलम्बन से भले प्रकार से एकता को प्राप्त करते हैं, तभी पुरूष का अधिष्ठान और प्रकृति का अनुग्रह प्राप्त करते हैं । तभी महत् और सभी भूत अण्ड की उत्पत्ति करते हें । यह अण्ड में रहकर क्रमशः बढते रहते हैं, जल में स्थित यह अण्ड भूतों से बृहत् हैं ।[2]

---

1. नाशक्तुवन्प्रजाः सृष्टुमसमागम्यकृत्स्नशः ।
सयेत्यान्योन्यसंयोगमन्योन्याश्रयविणश्चते ।।
मार्क0 पु0अ0 37

2. पुरूषाधिष्ठितठतत्वाच्च अव्यक्तानुग्रहेणच ।
महदाधाविशेषान्ताह्य ण्डमुत्पादयन्यिते ।।
जलबुद्बुदत्तत्रक्रमाद्वैवृद्धिभागतम् ।।
मार्क0 पु0अ0 37

ब्रह्म संज्ञा वाले क्षेत्रज्ञ भी उस प्राकृत अण्ड में बढते हैं, वही प्रथम देह और पुरूष नाम वाले हैं, वही भूतों के आदि कर्ता ब्रह्मा है, वही सबसे आगे प्रतिष्ठित होते हैं । वही चराचर को व्याप्त कर रहे हैं । उस बृहत अण्ड का मेरू पर्वत जरायु है और समुद्र गर्भ जल है, सुर, असुर, मनुष्यादि से परिपूर्ण सम्पूर्ण विश्व उस अण्ड में है । द्वीप, पर्वत, समुद्र ज्योति आदि सहित सभी लोक इसमें स्थित हैं ।[1] जल, वायु अग्नि भूतादि के सहित प्रत्येक ही उत्तरोत्तर दस गुण के नियम से बाहर के भाग में उस अण्ड को घेरे रहते हैं । इसके अतिरिक्त महत्तत्व ने इसी प्रमाण से उनके अण्ड आच्छादित किया हुआ है । उस महत्तत्व के सहित अण्ड को ढक कर सुशोभित होती है, इसी प्रकार सात प्राकृतिक आवरणों द्वारा वह अण्ड ढका रहता है ।[2]

---

1. सवैशरीरीप्रथमः सर्वपुरूषउच्यते ।
आदिकर्ताचभूतानांब्रह्मग्रेसमवतत् ।।
तेनसर्वमभिदेव्याप्तंत्रेलोकयसचराचश्चरम ।
मेरूस्तस्यानुसंभूतोजरायुश्चापिपर्वताः ।।
मा॰ पु॰ अ॰ 37

2. समुद्रगर्भसलिलंतस्याण्डस्यमहात्मनः ।
तस्मिन्नण्डेजगत्सर्वसदेवासुरमानुषम् ।।
महास्तैसयुंतः सर्वैव्यक्तेन समावृतः ।
ऐभिरावर्णैरण्डं सप्तभिः प्रकृतंवृतम् ।।
मा॰ पु॰ अ॰ 37

हिरण्यागर्थ और सृष्टि :

पुरूष एक था , उस समय वह 'अक्षर ब्रह्म' था, ब्रह्म ने इच्छा की कि मैं एक से अनेक बन जाऊँ प्रकृति के संयोग से वह उद्योग करने लगा । इच्छारूपी बीज को लेकर गर्भ धारण किया । कुछ दिन वहगर्भ गुप्त रहा, फिर धीरे–धीरे प्रकट होने लगा । ब्रह्मा के इस समष्टि और अव्यक्त रूप को हिरणयगर्भ कहते हैं । माता के गर्भ से सन्तान बाहर निकल कर प्रकट हुई परन्तु अभी अत्यन्त छोटे आकार में है । जैसे सर्पिणी के एक अण्डे से कई सौ बच्चे निकलते हैं और फिर बाहर आकर वह बडा रूप धारण कर लेते हैं । इसी प्रकार इस गर्भ ने यह सृष्टि रची और यह सूक्ष्म सृष्टि कहलायी ।

तत्पश्चात् नाना प्रकार की प्रजाओं की उत्पत्ति की इच्छा से भगवान् स्वयम्भू ने सर्वप्रथम जल की सृष्टि की[1] और उसमें अपने वीर्य को निहित कर दिया । अप--जल को नार कहा गया है । पहले–पहल वही भगवान् अयन (आश्रय स्थान) था । इसलिए भगवान् को नारायण भी कहते हैं । उस जल से ही हिरण्यवर्ण सुनहला अण्डा उत्पन्न हुआ ।[2] सम्भोग के पश्चात् जिस प्रकार तीन मास तक माता के उदर में गर्भ गुप्त रहता है उसी प्रकार ब्रह्म (हिरण्यगर्भ) के तीन मास तक अप्रकट रूप से जगद्जननी महामाया उसे धारण कर समस्त कार्य बन्द कर देती है । इस समय प्राकृतिक पदार्थों के बीज परिपक्व किये जाते

1. अप एव ससर्जाऽऽदौ तासु वीर्यमवासृजत ।
   आपो नारा इति प्रोक्ता आपो वै नरसुनवः ।।
   अ0पु0अ0 17
2. अयनं तस्य ताः पूर्व तेन नारायणः स्मृत ।
   हिरण्यवर्णमभक्तदण्डमुदकेशयम् ।।
   अ0पु0अ0 17

हैं कारण और सूक्ष्म सृष्टि का कार्य ब्रह्मा में नौ मास तक रहता है अर्थात् भगवान् हिरण्यगर्भ एक वर्ष तक उसी अण्डे में अवस्थित रहे ।[1] यही से स्थूल सृष्टि का प्रारम्भ होता है । गोला फटता है और दो भागों में विभक्त होकर स्वर्ग और भूलोक की सृष्टि की । परमेश्वर ने उन दो खण्डों के बीच आकाश की सृष्टि की।

जल में तैरती हुई पृथ्वी को और दसों दिशाओं को यथोचित स्थान पर रख दिया फिर काल, मन, वाणी, काम, क्रोध रति आदि को भी उत्पन्न किया ।[2] सबसे पहले विद्युत, व्रज, मेघ, रोहित, इन्द्रधनुष, पक्षियों और पर्जन्य की सृष्टि की । इसके पश्चात् प्रजापति ने यज्ञानुष्ठान के लिए मुख से ऋग्वेद, यजुर्वेद और सामवेद का निर्माण किया ।[3] सप्तऋषियों तथा रूदों से ही प्रजाओं की सृष्टि हुई। सृष्टि की वृद्धि की इच्छा से ब्रह्मा ने अपने शरीर के दो भाग किये – आधे भाग से वे पुरूष हुए और दूसरे आधे भाग से स्त्री बन गये फिर उस नारी के गर्भ से ब्रह्म ने प्रजाओं की सृष्टि की ।[4]

---

1. हिरण्यगर्भो भगवानषित्वा परिवत्सरम्

   अ०पु०अ० 17

2. अप्सु पारिप्लवां पृथ्वी दिशश्च दशधा दधे ।

   अ०पु०अ० 17

3. वयांसि च ससर्जादो पर्जन्यं चाथ वक्त्रत ।

   ऋचो यजूंषि सामानि निर्ममे यज्ञद्धिये ।।

   अ०पु०अ० 17

4. द्धधा कृत्वात्मनों देहमर्धेन पुरूषोऽभवत्

   अर्धेन नारी तस्यां स ब्रह्मा वै चासृजत्प्रजाः ।।

   अ०पु०अ० 17

ब्रह्म पुराण में भी इसी प्रकार का वर्णन किया गया है कि ईश्वर से ही विश्व की रचना होती है । उस ईश्वर को सब प्राणियों का आश्रय ब्रह्मा कहा है। स्वयंभू भगवान् ने विविध प्रकार की प्रजाओं को उत्पन्न करने के लिए पहले जल ही की सृष्टि की । उसमें बीज डाला । नार शब्द जल राशि के अर्थ में प्रयुक्त होता है । उस परम पुरूष का आश्रय पहले जल राशि ही था, इसलिए उसे नारायण नाम से सम्बोधित किया गया है ।[1]

उस जल में सुवर्णमय अण्डा उत्पन्न हुआ । हिरण्यगर्भ भगवान् ने वर्ष तक उसमें वास करके, स्वर्ग और पृथ्वी दो भागों में विभक्त कर दिया और मध्य में आकाश को स्थित किया तदनेन्तर काल, मन, वाणी, काम, क्रोध और रति की रचना की । बिजली, व्रज, इन्द्रधनुष जल और मेध रच कर यज्ञसिद्धि के लिए ऋग्वेद, यजुर्वेद और सामवेद का निर्माण ब्रह्मा ने किया, फिर छोटे–बडे सब प्राणियों को ब्रह्मा ने अपने अंगों से उत्पन्न किया,[2] तत्पश्चात् ब्रह्मा ने अपनी देह के दो भाग किये । आधे भाग से पुरूष बना और आधे भाग से स्त्री बनी । उस स्त्री से ब्रह्मा ने अनेक प्रकार की सृष्टि की ।[3]

---

1. अयनं तस्य ताः पूर्व्व तेन नारायणः स्मृत : ।
   हिरण्यवर्णमभक्तदण्डमुदकेशयम् ।।
   ब्र0पु0अ0 1

2. वयांसि च ससर्जादौ पर्जन्युंच ससर्ज ।
   ऋचो यजूंषि सामानि निर्म्ममेयज्ञसिद्धि ।।
   तदैव

3. द्विधा कृत्वात्मनों देहमद्धेन पुरुषोऽभ्वत् ।
   अर्द्धेन नारी तस्यां तु सोऽसजदिविधा प्रजा ।।
   ब्र0पु0अ0 1

मत्स्य मुराण के अनुसार उस ब्रह्मा ने अपने शरीर से अनेक प्रकार की सृष्टि करने की इच्छा से (पूर्व सृष्टि का) भली–भांति ध्यान करके प्रथमतः जल की ही रचना की और उसमें अपना वीर्यरूप बीज का निक्षेप किया ।[1] वही बीज एक वर्ष व्यतीत होने पर सुवर्ण ओर रजतमय अण्डे के रूप में परिणत हो गया , उसकी आठ क्रान्ति, दस सहस्र सूर्य के समान थी, तत्पश्चात स्वयंभू भगवान् स्वयं उसमें प्रविष्ट हो गये । तदनन्तर उस अण्डे से भगवान सूर्य पक्रट हुए जिन्हे वेदों में ब्रह्मा कहा गया है[2] उन्होंने ही अण्डे को दो भागों में विभक्त कर स्वर्ग और भूतम लोक की रचना की तथा उन दोनों के मध्य अविनाशी आकाश का निर्माण किया ।[3] उस अण्डे से जरायु भाग से मेरू, आदि सातों पर्वत प्रकट हुए और जो गर्भाशय था, वह विद्युत्समूह मेघमण्डल के रूप में परिणत हुआ । उसी अण्डे से, पितृगण और मनुसमुदाय उत्पन्न हुए ।[4] नाना प्रकार के रत्नों से युक्त सातों समुद्र उत्पन्न हुए । इस प्रकार ब्रह्मा जी ने समस्त जगत् की रचना की ।

---

1. यः शरीरादभिरध्याय सिसृक्षुर्विविधं जगत् ।
   अप एव ससर्जादौ तासु बीजमवासृजत ।।
   म0पु0 अ0 3

2. तदैवाण्डं समभवद्धेरूप्यमयं महत् ।
   सवत्सरसहस्रेण सूर्यायुतसमप्रभम ।।
   म0पु0 अ0 3

3. दिवं भूमिं समकरोत् तदण्ऽशकलद्वयम् ।
   स चाकरोद्दिशः सर्वामध्ये व्योम च शास्वतम ।।
   म0पु0 अ0 3

4. नद्योऽण्डनाम्नः सम्भूतः पितरो मनवस्तथा ।
   सप्तयेऽमी समुद्राश्व तेऽपि चान्तर्जलोद्ध्वा ।।
   म0पु0अ0 3

विष्णु पुराण के कथनानुसार कि उस ईश्वर ने प्रधान तत्व के अनुग्रह से अण्डे की उत्पत्ति की । जल के बुलबुले के समान क्रमशः भूतों से बढ़ा हुआ वह गोलाकार वह महान् अण्ड हिरण्यगर्भ रूप अति प्राकृतिक आधार हुआ । उसमें वे अव्यक्त स्वरूप विष्णु व्यक्त हिरण्यगर्भरूप से स्वयं ही अवस्थित हुए ।[1] उन हिरणगर्भ का सुमेरू उल्ब, अन्य पर्वत जरायु तथा समुद्र गर्भाशय था । उस अण्डे से ही पर्वत और द्वीपादि के सहित समुद्र, ग्रहगण के सहित सम्पूर्ण लोक तथा देव, असुर और मनुष्य आदि विभिन्न प्राणी वर्ग हुए ।[2]

श्रीमद्भगवत पुराण में भी कहा गया है कि वह भगवान् ही व्यष्टि–समष्टिरूप पिण्ड और ब्रह्माण्ड की रचना करता है । वह ब्रह्माण्डरूप अण्डा एक सहस्र निर्जीवरूप से जल में पड़ा रहा । फिर काल, कर्म और स्वभाव को स्वीकार करने वाले भगवान् ने जीवित कर दिया ।[3] उस अण्डे के फटने पर उससे वही विराट पुरूष निकला जिससे समस्त लोक और चर–अचर जगत की उत्पत्ति हुई ।[4]

1. भूतेभ्योऽण्डं महाबुद्धे महन्तदु दकेशयम् ।
प्रकृतं ब्रह्मरूपस्य विष्णोः स्थानमनुत्तमम् ।।
वि0पु0अ0 प्रथम अ0 2

2. साद्रिद्वीपसमुद्राश्व सज्योतिर्लोकसंग्रहः ।
तस्मिन्नण्डेऽभवद्विप्र सदेवासुरमानुषः ।।
वि0पु0अ0 प्रथम अ0 2

3. वर्षपूगसहस्रान्ते तदण्डमुदकेशयम् ।
कालकर्मस्वभावस्यो जीवोऽजीवमजीवयत् ।।
भा0 पु0 स्क0 द्वितीय अ0 6

4. स एवं पुरूषस्तस्मादण्डं निर्भिद्य निर्गतः ।
सहस्रोर्वङ्घ्रिबाह्वाक्षः सहस्राननशीर्षवान ।।
भा0 पु0 स्क0 द्वितीय अ0 6

कूर्मपुराण के मतानुसार कि उस सर्वभूतमय पर ब्रह्म ने अपने शरीर से नानाविध सृष्टि करने की इच्छा की और सर्वप्रथम परमात्मा ने जल को उत्पन्न किया और जल में महाभूतों से बृहत् अण्ड उत्पन्न हुआ ।[1] उस बृहत् अण्ड को ही हिरणयगर्भ और सनातन कहा गया है । उसका गर्भवेष्टन मेरू था, गर्भ के आवरणरूप जरायु पर्वत थे । गर्भोदक सभी समुद्र थे ।[2] उस अण्ड में देवताओं, असुरों और मनुष्यों सहित सभी सम्पूर्ण विश्व उत्पन्न हुआ । तथा ग्रहों, वायु, सूर्य और चन्द्रमा की सृष्टि भी हुई ।[3]

नैत्तिरीयोपनिषद् में सृष्टि का वर्णन इस प्रकार है कि उस परमात्मा ने कामना की, कि मैं अनेक रूपों में उत्पन्न हो जाऊँ । तब उन्होंने तप किया । तप करने के पश्चात् उसने इस जगत् की रचना का कार्य किया । उन सबकी रचना करके वह उनमें स्वयं ही प्रवेश कर गये । उन सबमें प्रवेश करके स्वयं ही प्रकट और अप्रकट रूप में हो गये । आश्रय युक्त और आश्रय रहित रूप में भी वही हो गये ।[4] यह जो कुछ भी गोचर–अगोचर रूप में सृष्टि की रचना हुई ।

1. एककालसमुत्पन्न जलबुदबुदवच्च तत् ।
विशेषभ्योऽण्डमभवद् ब्रह्म तदुदकेशयम् ।।
कू0पु0पू0वि0 अ0 4

2. मेरूरूल्बमभूत् तस्य जरायुश्रापि पर्वता : ।
गर्भोदकं समुदाश्र तस्यासन् परमात्मनः ।।
कू0पु0पू0वि0 अ0 4

3. तस्मिन्नण्डेऽभवद विश्वं सदेवा सुरमानुषम् ।
चन्द्रादित्यौ सनक्षत्रो सग्रहौ सह वायुना ।।
(कू0पु0पू0वि0अ0 4)

4. सोऽकामयत् । बहु स्यां प्रजायेयेति । स तपोऽतप्यते । स तपस्तप्त्वा इदसर्वमसृजत यदिदं किं च । तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत् । निरूक्तं चानिरूक्तं च । निलयनं चानिलयमं च । विज्ञानं चाविज्ञानं च ।
तै0 उप0 अनु0 6

सृष्टि के समस्त पदार्थ अस्तित्व में आने से पूर्व निराकार परमात्मा में लीन थे । उसी से सभी अस्तित्व का पादुर्भाव हुआ । उस परमात्मा ने स्वयं को ही नाना रूप उत्पन्न किया ।[1]

वाल्मीकि रामायण में सृष्टि का वर्णन इस प्रकार से है, सृष्टि के आरम्भिक काल में सब कुछ जलमय था। उस जल के भीतर से जल का निर्माण हुआ । तदनन्तर देवताओं के साथ स्वयम्भू ब्रह्मा प्रकट हुए।[2] इसके बाद उन भगवान् विष्णु रूप ब्रह्मा ने ही वराह रूप से प्रकट होकर जल से पृथ्वी को निकाला और सम्पूर्ण जगत् की सृष्टि की ।[3]

ऐतरेयोपनिषद् में भी इस प्रकार का वर्णन मिलता है । सबसे पहले संसार में एक मात्र परमात्मा ही था । उसके अतिरिक्त और कोई दूसरा चेष्टा करने वाला नहीं था । " मैं लोकों की रचना करूँ"[4] यह संकल्प रूप ब्रह्मा ने तप किया। तप के फलस्वरूप उस हिरण्यगर्भ पुरूष ने शरीर अण्डे की तरह फूट कर निकला[5] और उसी से अण्डज, स्वेदज, उदभिज्ज और जरायुज की उत्पत्ति हुई ।

1. असद्वा इदमग्र आसीत् । ततौ वै सदजायत । तदात्मान स्वयमकुरूत ।
   – तै0 उप0 अनु0 7
2. सर्व सलिलमेवासीत् पृथिवी तत्र निर्मिता ।
   ततः समभबद ब्रह्मा स्वयंभूदैवतः सहः ।।
   – वाल्मी0 रा0 2/110/3
3. स वराहस्ततो भूत्वा प्रोज्जहार वसुन्धराम ।
   असृजच्च जगत् सर्व स पुत्रैः कृतात्मभि : ।।
   – वाल्मी0 रा0 2/110/3
4. ॐ आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत!
   नान्यत्किंचन मिषत् ।
   स ईक्षत लोकन्नु सृजा इति ।
   – ऐत0उप0अ0प्रथम ख0 1
5. तमभ्यतपन्वततस्याभितप्तस्य मुखं निरभिद्यत यथाण्डं मुखाद्वाग् ।
   – ऐत0उप0अ0प्रथम ख0 1

मुण्डकोपनिषद् के अनुसार वह परमात्मा इन्द्रियों के द्वारा नहीं जाना जा सकता । उसका कोई रूप रंग नहीं है, उसकी उत्पत्ति के स्थान का पता नहीं है। उसकी कोई आकृति नहीं है । वह सर्वत्र व्याप्त है ऐसा कोई स्थान नहीं जो उसकी सत्ता से रिक्त हो। समस्त प्राणी उसी से उत्पन्न होते हैं ।[1] जिस प्रकार मकडी अपनी नाभि से जाले के सूत्र को पैदा करती है तथा पुनः अपने में लीन भी कर लेती है उसी प्रकार अपने में से यह समस्त चराचर को पैदा करता है, पुनः समय आने पर उन सबको आत्मसात् कर लेता है । जिस प्रकार पृथ्वी में से अनेक प्रकार की बनस्पतियाँ उत्पन्न होती है । उसी प्रकार जीव समुदाय विभिन्न योनियो में उत्पन्न होते हैं ।[2]

वेदों का कहना है कि प्रजापति को ब्रह्मा, मनु, अग्नि, शुक्र आदि अनेक नामों से सम्बोधित किया गया है ।[3] जब वहीं प्रजापति गर्भ रूप में रहता है, तो उसकी संज्ञा हिरणयगर्भ होती है ।[4] ऋग्वेद के ''हिरणयगर्भसूक्त में भी सृष्टि

---

1. यत्तदद्रेश्यमग्राह्यमगोत्रमवर्णमचक्षुः श्रोत्र तदपाणिपादम् ।
नित्यं विभुं सर्वगतं सुसूक्ष्मं तदव्ययं यत्भूतयोनिं परिपश्यन्ति धीरः
– मु0उप0प्र0मुण्डक ख0 1

2. यथोर्णनाभि सृजते गृहते च, यथा पृथित्यामोषध्यः सम्भवन्ति ।
यथा सतः पुरूषात्केशलोमानि तथाक्षरात्सम्भवतीहविश्वम् ।।
– मु0उप0प्र0मुण्डक ख0 1

3. तदेव शुक्रं तद् ब्रह्म ता आपः स प्रजापतिः ।
तदेव शुकं तद् तद् ब्रह्म तदेवामृतमुच्यते ।।
– यजु0 वे0 2/3/1

4. हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे भूतस्य जातः पातिरेकासीत् ।
स दाधर पृथिवी धामुतेमां कस्मै दैवाय हविषा विधेन ।।
– ऋ0 10/121/1

विषयक धारण व्यक्त की गई है कि सर्वप्रथम सृष्टि का कर्त्ता हिरण्यगर्भ है, जिसने जगत् की रचना की । उसी ने पृथ्वी और आकाश को धारण किया ।[1] यह हिरणयगर्भ जीवनदाता और मृत्युदाता एवं जरायुज, स्वेदज, अण्डज तथा उद्‌मिज्ज का स्वामी है । उसी की सामर्थ्य से हिमवान्, पर्वत, पृथ्वी और समुद्र हैं जिसने सर्वप्रथम बीजरूप में जगत् को धारण करने वाले एवं पुनः यज्ञोपलक्षित सम्पूर्ण जगत् को उत्पन्न करने वाले जल को अपनी अपनी सामर्थ्य से देखा । पृथ्वी का स्रष्टा, आकाश को उत्पन्न करने वाला है जिसने विपुल परिणाम वाले जल की सृष्टि की यह भावना ऋग्वेद के प्रथम मण्डल में भी स्पष्ट झलकती है ।

गीता में भगवान् श्री कृष्ण ने सृष्टि की उत्पत्ति के विषय में इस प्रकार कहा है कि महत्–ब्रह्म अर्थात् मेरी प्रकृति ही मेरे लिए गर्भ स्थापना का स्थान है। उसमें मैं गर्भ स्थापना करता हूँ, उसी से सब भूतों की उत्पत्ति होती है । सब योनियों में जो मूतियाँ उत्पन्न होती है इन सब का उत्पत्ति स्थान महत् ब्रह्म अर्थात् मेरी प्रकृति ही है । मैं ही उसमें बीज डालने वाला पिता हूँ ।[2] कहने का तात्पर्य यह है कि सब विश्व का पालक एक ईश्वर है, उस ईश्वर की एक प्रकृति है, उसको महद्‌ब्रह्म कहते हैं । यह शक्ति अनन्त है । ईश्वर जैसे महान् है, वैसे

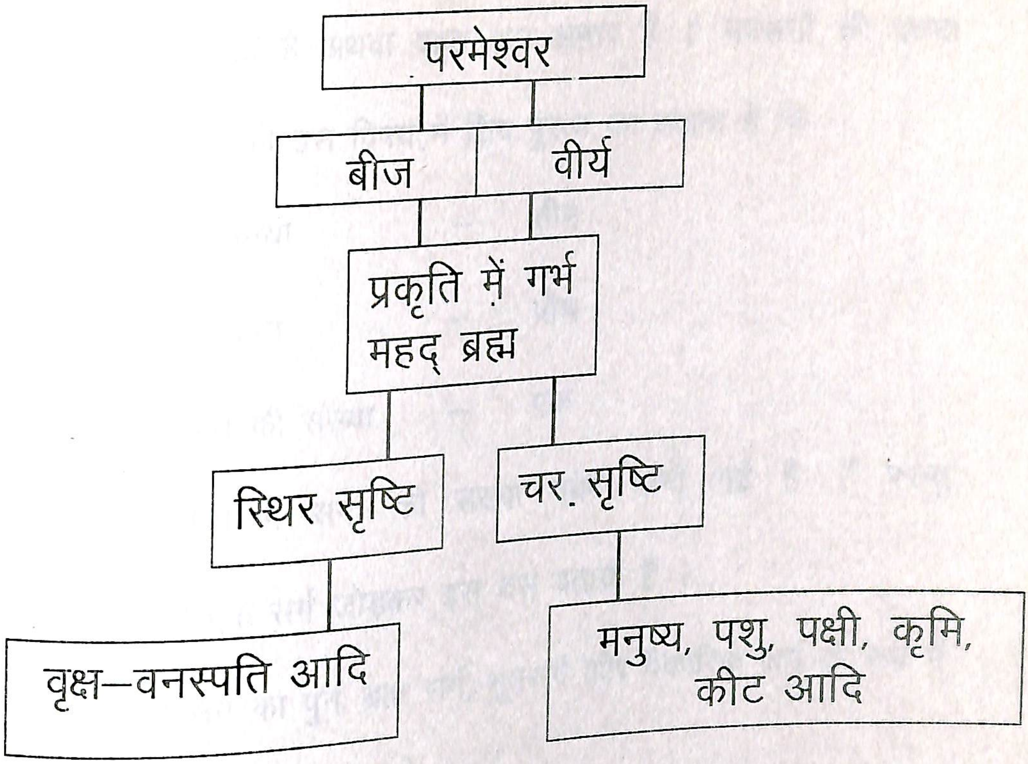
1. यश्चापश्चन्द्रा बृहतीर्जजान कस्मै ह हविषा विधेयम ।।
मानो हिंसीज्जनिता यः पृथ्विया यो वा दिवंसत्यधर्मा जजान ।
– ऋ0वे0 10/121/9

2. मम योनिमहृद्रभ तस्मिन्गर्भे दधाम्हम ।
संभव सर्वभूतानां ततो भवति भारत ।।
सर्वयोनिषु कौन्तेय मूर्तयः सभवन्ति याः ।
तासां ब्रह्म महधैनिरहं बीजप्रदः पिता ।।
– भ0गी0अ0 14

ही यह महद्शक्ति महान है । यही ईश्वर की महती प्रकृति ही सब चराचर का उत्पत्ति स्थान है । इसी से सब पैदा होते है और अन्त में इसी में जा मिले हैं । कोई ऐसी वस्तु नहीं है जो इस प्रकृति से उत्पन्न न हुई हो । अर्थात् स्थिर, चर, मूर्त, अमूर्त तथा सृष्टि के अन्तर्गत सब पदार्थ इसी ईश्वरीय प्रकृति से पैदा हुए हैं।

मानों ईश्वर (बीजप्रदः पिता) गर्भाधान करने वाला पिता है और यह प्रकृति गर्भ का धारण पोषण करके प्रसव करनेवाली (ब्रह्म महत् योनिः) माता है । इस प्रकृति की योनि में ईश्वर का वीर्य जाता है, वहाँ उससे गर्भधारणा होती है और सृष्टि के सब चल और अचल, सजीव और निर्जीव पदार्थ बन जाते हैं । सभी भूतों की उत्पत्ति इसी तरह होती है।

इस सृष्टि में मनुष्य, पशु, पक्षी, कीट, पंतग, जलचर, स्थल, खेचर, वृक्ष, वनस्पति आदि अनन्त योनियाँ हैं । प्रत्येक जाति में अनन्त उपजातियाँ हैं । इनकी गिनती नहीं हो सकती । ऐसी सम्पूर्ण अनन्त योनियों में उत्पन्न होने वाली अनन्त मूर्तियों की महायोनि यह परमात्मा की प्रकृति ही है और परमेश्वर ही इस प्रकृति में उन सबका बीज डालता है जिससे सब सृष्टि में दीखनेवाली मूर्तियाँ उत्पन्न होती है ।



विभिन्न प्रकार की सृष्टि :

पुराणो में मुख्य रूप से सृष्टि तीन प्रकार की मानी गयी है ।

1. प्राकृत सर्ग
2. वैकृत सर्ग
3. प्राकृत–वैकृत सर्ग

प्राकृत और वैकृत के पार्थक्य के विषय में पुराणों का कथन है कि प्राकृत सर्ग अबुद्धिपूर्वक होता है अर्थात् उसकी सृष्टि नैसर्गिक रूप से होती है और उसके निमित ब्रह्मा को बुद्धि कार्य रूप में लाने की आवश्यकता नहीं होती । इसके विपरीत, वैकृतसर्ग बुद्धिपूर्वक होता है अर्थात् ब्रह्मा ने सोच विचार कर इस सर्ग का निर्माण किया । नव सर्गों से सम्बन्धित श्लोक भी पुराणो में एक

समान रूप से मिलता है अथवा बहुत कम अन्तर है ।[1] नवसर्गों की रचना ब्रह्मा ने किस प्रकार की इस विषय में शिव पुराण का कहना है कि –

प्राकृत सर्ग की संख्या – तीन

वैकृत सर्ग की संख्या – पाँच

प्राकृत और वैकृत की संख्या – एक

अधिकतर पुराणों में सर्गों की संख्या नवम मानी गई है ।[2] परन्तु श्रीमद्भगवत ने इसमें एक सर्ग जोड़कर इस दस बताया है ।

प्राकृत सर्ग : प्राकृत सर्ग का पुनः ब्रह्म सर्ग, भूतसर्ग और वैकारिक सर्ग के रूप में विभाजन मिलता है ।

क– ब्रह्म सर्ग :– तत्व के सर्ग को ब्रह्मा का प्रथम सर्ग कहते हैं ।[3] ब्रह्म सर्ग महत् ब्रह्म अर्थात् बुद्धितत्व का बोधक है ।

ख– भूत सर्ग :– पृथिव्यादि पंचभूतों का अत्यन्त सूक्ष्म दशा के सूचक तत्व हैं।

ग– वैकारिक सर्ग :– इन्द्रिय सम्बन्धी सृष्टि को "वैकारिक सर्ग" कहा जाता है ।

---

1. इत्येते वैसमाख्याता नवसर्गः प्रजापतेः ।
   – मार्क0पु0अ0 47

2. प्राकृतश्चत्रये पूर्वें सर्गास्तेऽबुद्धिपूर्वकाः ।
   बुद्धिपूर्वं प्रवर्तन्ते मुख्याद्याः पंचवैकृताः ।।
   – शि0पु0वादवीय 1/1218

3. वैकारिकस्तृतीयस्तु सर्ग ऐन्द्रियकः स्मृतः ।
   – वि0पु0

वैकृत सर्ग :

इनकी संख्या पाँच है । जो इस प्रकार है–

क– मुख्य सर्ग

ख– तिर्यक् सर्ग

ग– देव सर्ग

घ– मानुष सर्ग

ङ– ङः अनुगह सर्ग ।

क– मुख्य सर्ग :

विष्णु पुराण के मतानुसार सर्ग आदि में ब्रह्मा जी के पूर्ववत् सृष्टि विषयक चिन्तन करते हुए अबुद्धिपूर्वक तमोगुणी सृष्टि का आविर्भाव हुआ – पंचाविद्या के रूप में तम, मोह, महामोह, तामिस्र तथ अन्धतामिस्र ये अविद्या के पाँच प्रकार है।[1] पुनः ब्रह्मा के ध्यान करने पर जो सृष्टि हुई वह ज्ञानशून्य, भीतर–बाहर से तमोभमय और जडरूप पाँच प्रकार के थे । यह जड सृष्टि मुख्य सर्ग के नाम से इसलिए अभिहित की गयी है कि पृथ्वी पर चिरस्थायिता की दृष्टि से पर्वतादि की मुख्यता है ।[2]

1. अबुद्धिपूर्वकः सर्गः प्रादुर्भूतस्तमोमयः ।
तमों मोहो महामोहस्तामिस्रो हयन्धसज्ञित : ।।
अविधा पंचपर्वेषा प्रादुर्भूता महात्मनः ।।
– वि0पु0अं0 प्रथम, अ0 5

2. इत्येषा प्राकृतः सर्गः सम्भूतो बुद्धिपूर्वकः ।
मुख्य सर्गश्वतुर्थस्तु मुख्या वै स्थावरा स्मृत : ।
– वि0पु0अं0 प्रथम, अ0 5

ख– तिर्यक सर्ग :

ब्रह्मा ने इस सृष्टि को पुरूषार्थ की सिद्धि न जान कर पुनः ध्यान किया, तो तिर्यग्योनि के जीवों का उदय हुआ । इस योनि के प्राणी वायु के समान तिरछी गति से चलते हें । वे इस सर्ग में आते हैं– पक्षी और पशु, यें सब तमोमय विवकेशून्य और विपरीत ज्ञान को ही यथार्थ मानने वाले होते है ।[1] स्थावर सृष्टि के जंगम सृष्टि का यह प्रथम रूप सामने आया । ।

ग– देव सर्ग :

तिर्यक योनि की सृष्टि से ब्रह्मा को सन्तुष्टि नहीं हुई । उसकी सन्तुष्टि के हेतु वह सर्ग है जो पुरूषार्थ अर्थात् मोक्ष का साधक हो । तिर्यक स्रोत का सर्ग इस तात्पर्य में सहायक न हो होने से उन्होंने उर्ध्वग्रोत वाले' प्राणियों का सृजन किया ।[2] यह उर्ध्वलोक में निवास करने वाला सात्विक वर्ग है । इस सृष्टि के विषय सुख से सम्पन्न होते हैं, बाह्य और आन्तरिक दृष्टि से युक्त होते है ।[3]

घ– मानुष सर्ग :

पूर्वसर्ग भी ब्रह्मा की दृष्टि में पुरूषार्थ के असाध्य ही निकला। इसलिए सत्य सकंल्प ब्रह्म ने अपने ध्यान से एक और नवीन वर्ग का निर्माण किया, जो पृथ्वी पर ही गमन करने वाले जीव थे कि इनमें सत्त, रज और तम् इन तीनों

---

1. तिरश्रामष्टमः सर्गः सो़ऽष्टाविशं विधोमतः। (भा0पु0स्क0तृतीय,अ010)
2. तमप्यसाधकं मत्वा ध्यायतोऽन्यस्ततो ऽभवत्।
   ऊर्ध्वस्रोतास्तृतीयस्तु सात्विकोर्ध्वमवर्त्तत।। (वि0पु0अं–प्रथम, अ05)
3. ते सुखप्रीतिबहुलां बहितस्त्वनावृता।
   प्रकाशा बहिरन्त... ऊधर्वस्रोतोयवाः स्मृताः।। (वि0पु0अं–प्रथम, अ05)

गुणों का आधिक्य रहता है। इस विशेषता के कारण वे दुःख बहुल होते है, वे अत्यन्त क्रियाशील होते है सदा कार्य में सलंग्न रहते है तथा ज्ञान से सम्पन्न होते है। इस वर्ग के प्राणी 'मनुष्य' कहलाते है।[1]

ङ– अनुग्रह सर्ग

इसके स्वरूप का स्पष्टतः निर्देश मार्कण्डेय पुराण में इस प्रकार है–विपयर्य, सिद्धि, शान्ति, और तुष्टि।[2] विष्णु पुराण ने इसे सात्त्विक और तामस कहकर केवल सामान्य संकेत किया है। वायु पुराण में इन चारों की व्यवस्था भी की गई है– स्थावरों में निवास करने वाला विपयर्य, तिर्यग्योनि मे मनुष्य में–सिद्धि तथा देवों में तुष्टि।

वायु पुराण के अनुसार समस्त प्राकृतिक सर्ग प्रकृति के अनुग्रह के कारण ही अनुग्रह सर्ग कहलाता है । वायु पुराण में बड़ा ही मनोहर वर्णन किया गया है।

---

1. ततोऽन्यं स तदा दध्यो साधकं सर्गमुत्तमम्।
असाधकांस्तुतज्ज्ञात्वा मुख्यसर्गादिसम्भवान।।
तथाभिध्यायतस्तस्य सत्याभिध्यायिनस्ततः।
प्रादुर्बभूव चाव्यक्तादर्वाक्स्रोतास्तुसाधकः।।
यस्मादवर्ग्त्यवर्तन्त ततोऽर्वाक्सोतस्तु ते।
ते च प्रकाशबहुलास्तमोद्रिक्ता रजीऽधिकाः।।
(वि०पु०अ०प्र०अ० 5)

2. पंचमोऽनुग्रहः सर्गश्चतुर्धा स व्यवस्थितः ।
विपयर्ययेणं शक्तया च तुष्टया सिद्धया च ।।
— मार्क० पु० 47/28

संसार रूपी वृक्ष

बीज	अव्यक्त
स्कन्ध	बुद्धि
अंकुर	अन्द्रिय
शाखा	महाभूत
पत्र	पंच विषय
पुष्प	धर्म और अधर्म
फल	सुख और दुःख
पक्षी	सब प्राणी

वायु पुराण में इस सर्ग को अनुग्रह सर्ग कहा गया है ।[1]

---

1. अव्यक्त बीज प्रभवस्तस्यैवानुग्रहो स्थितः ।
शुद्धिस्कन्धमयश्चैव इन्द्रियंकुरकोटरः ।
महाभूतप्रशाखश्च विक्षेपैः पशवांतथा ।
धर्माधर्मसुपुष्पस्तुसुखदुःखफलोदयः ।।
आजीवः सर्वभूतानामयं वृक्षः सनातनः ।
एतद् ब्रह्म वनं चैव ब्रह्मवृक्षस्यतस्यतु ।।
अव्यक्तं कारणं यन्तु नित्यं सदासदात्मकम् ।
इत्येषोऽनुग्रहः सर्गो ब्रह्मण प्राकृस्तु यः ।
— वा0पु0 अ0 9

प्राकृत और वैकृत के अन्तर्गत एक ही सर्ग कौमार सर्ग है –

क– कौमार सर्ग :

यह अन्तिम सर्ग प्राकृत और वैकृत उभयात्मक माना गया है "कौमार" शब्द से सनत्कुमार के उदय का संकेत है, क्योंकि भागवत पुराण में कौमार सर्ग शब्द का प्रयोग इसी अर्थ में किया गया है ।[1]

भागवत पुराण के अनुसार दस प्रकार की सृष्टि इस प्रकार से है –[2]

1. प्रथम सृष्टि महत्तव की है । ईश्वर की प्रेरणा से सत्वादि गुणों में विषमता होना ही इसका स्वरूप है ।
2. दूसरी सृष्टि अहंकार की है जिससे पृथ्वी आदि पंचभूत एवं ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्दियों की उत्पत्ति होती है ।
3. तीसरी सृष्टि भूतसर्ग है, जिसमें पंचभूतों को उत्पन्न करने वाला तन्मात्रा वर्ग रहता है ।[3]
4. चतुर्थ सृष्टि इन्द्रियों की है । यह ज्ञान और क्रिया शक्ति से सम्पन्न होती है ।

---

1. स एव प्रथमं देवः कौमारं सर्गमास्थित : ।
   चचार दुश्चरं ब्रह्मा ब्रह्मचयखडितंम् ।।
   – भा0पु0स्क0प्रथम अ0 3
2. आधुस्तु महतः सर्गो गुणवैषम्यमात्मनः ।
   – भा0पु0स्क0प्रथम अ0 3
3. द्वितीयस्त्वहमो यत्र द्रव्यज्ञानक्रियोदयः ।
   भूतसर्गस्तृतीयस्तु तन्मात्रो द्रव्यशक्तिमान ।।
   – भा0पु0स्क0प्रथम अ0 3

5. पाँचवीं सृष्टि सात्विक अहंकार से उत्पन्न हुए इन्द्रियाधिष्ठाता देवताओं की है । मन भी इसी सृष्टि के अन्तर्गत है ।[1]

6. छठी सृष्टि अविद्या की है । इसमें तामिस्र, अन्धतामिस्र, तम, मोह और महामोह –यें पाँच गाँठे है । यह जीवों की बुद्धि का आवरण और विक्षेप करने वाली है। यें छः प्राकृत सृष्टियाँ है ।[2]

7. सातवीं प्रधान वैकृत सृष्टि इन छः प्रकार के स्थावर वृक्षों की होती है ।[3] वनस्पति, औषधि, लता, त्वक्सार, वीरूध और द्रुम । इनमें प्रायः ज्ञानशक्ति प्रकट नहीं रहती, यें भीतर ही भीतर केवल स्पर्श का अनुभव करते हैं ।

8. आठवीं सृष्टि तिर्यग्योनियों (पशु–पक्षियों की) है । यह अट्ठाईस प्रकार की मानी जाती है । इन्हें काल का ज्ञान नहीं होता, तमोगुण की अधिकता के कारण, यें केवल खाना–पीना, मैथुन करना, सोना आदि ही जानते हैं । इन्हें सूंघने मात्र से वस्तुओं का ज्ञान हो जाता है। इनमें विचारशक्ति नहीं होती ।[4]

1. चतुर्थ ऐन्द्रियः सर्गोयस्तु ज्ञानकियात्मकः ।
वैकारिको देवसर्गः पंचमों यन्मयं मनः ।।
– भा0पु0स्क0तृतीय अ0 10

2. षष्ठस्तु तमसः सर्गो व्यस्त्वबुद्धिकृतः प्रभो ।
षडिमें प्राकृतः सर्गा वैकृतानीय में श्रुणु ।।
– भा0पु0स्क0तृतीय अ0 10

3. सप्तमों मुख्यसर्गस्तु षड्विधस्तस्थुषां च यः ।।
– भा0पु0स्क0तृतीय अ0 10

4. तिरश्चाष्टमः सर्गः सोऽष्टविंशद्धिधो मतः ।
अविदो भूरितमसो घ्राणज्ञा छद्यावेदिनः ।।
– भा0पु0स्क0तृतीय अ0 10

9. नवमीं सृष्ठि मनुष्यों की है । यह एक प्रकार की होती है । इसके आहार का प्रवाह ऊपर (मुँह) से नीचे की ओर होता है । मनुष्य रजोगुण की प्रधानता के कारण, कर्मपरायण, दुःखरूप विषयों में ही सुख मानने वाले होते हैं ।[1]

10. दसवीं सृष्टि में देवता, पितर, असुर, गन्धर्व –अप्सरा, यक्ष–राक्षस, भूत–प्रेत–पिशाच आदि भेद से देव सृष्टि आठ प्रकार ही हैं ।[2]

अग्नि पुराण में भी नव प्रकार की सृष्टि का वर्णन किया गया है ।

1. महत्तत्व की सृष्टि हुई, इसे ब्रह्मा की सृष्टि समझना चाहिए ।
2. दूसरी सृष्टि तन्मात्राओं की है इसे भूत सर्ग कहा गया है ।[3]
3. तीसरा वेकारिक सात्विक सर्ग है जिसे एन्द्रिक सर्ग कहते हैं । यह प्रकृति से होने वाली सृष्टि है जिसमें बुद्धि और महत्तव पहले उत्पन्न हुई ।[4]
4. चतुर्थ सर्ग मुख्य सर्ग है । स्थावर वृक्ष, पर्वत आदि को मुख्य कहते है।

---

1. अर्वाक्स्रोतस्तु नवमः क्षतरेकविधो तृणम् ।
रजोऽधिकाः, कर्मपरा दुःखे च सुखमानिना ।।
– भा0पु0स्क0तृतीय अ0 10

2. देवसर्गश्चष्टविधो बिबुधा पितरोऽसुराः ।
गन्धर्वासरसः सिद्धा यक्षरक्षासि किन्नरादयः ।।
– भा0पु0स्क0तृतीय अ0 10

3. प्रथमों महतः सर्गो विज्ञयों ब्रह्मणस्तु सः ।
तन्मात्राणां द्वितीयस्तु भूतसर्ग हि स स्मृतः ।।
– अ0पु0अ0 20

4. वैकारिकस्तृतीयस्तु सर्ग ऐन्द्रियकः स्मृत : ।
इत्येष प्राकृतःसर्गः सम्भूतों बुद्धिपूर्वक ।।
– अ0पु0अ0 20

5. पांचवा जो तियक्स्रोत (पशु, पक्षी आदि) कहा गया है ।[1]

6. छठा सर्ग उर्ध्वरेता प्राणियों का है जिसे देवसर्ग कहते हैं ।

7. तदनन्तर अधोरेता प्राणियों के सातवें सर्ग का निर्माण हुआ, जिसे मानुष सर्ग कहते हैं ।[2]

8. आठवां सर्ग अनुग्रह सर्ग है, जो सात्विक और तामस भेद से दो प्रकार का होता है । इनमें से पहले तीन सर्ग प्राकृत सर्ग तथा शेष पांच वैकृत सर्ग हैं ।

9. नवम सर्ग कौमार सर्ग – यें सब सर्ग ब्रह्मा के द्वारा निर्मित तथा संसार के मूल कारण हैं ।[3]

मत्स्य पुराण में भी नव प्रकार की सृष्टि का उल्लेख मिलता है –

1. ब्रह्मा का पहला सर्ग महत्सर्ग कहा गया है ।

2. तन्मात्राओं का दूसरा सर्ग भूतसर्ग कहा गया है ।[1]

---

1. मुख्यः सर्गश्चतुर्थस्तु मुख्या वै स्थावराः स्मृताः ।
तिर्यकस्रोतास्तु यः प्रोक्तस्तैर्थग्योन्यस्ततः स्मृतः ।।
– अ0पु0अ0 20

2. तथोर्ध्वस्रोतसां षष्णे देवसर्गस्तु स स्मृतः ।
वकिस्रोतसा सर्गः सप्तमः स तु मानुषः ।।
– अ0पु0अ0 20

3. प्राकृतो वैकृतश्चैव कौमारो नवमस्तथा ।
ब्रह्मणो नव सर्गास्तु जगतो मूलहेतवः ।।
– अ0पु0अ0 20

3. तीसरा वैकारिक सर्ग ऐन्द्रियक सर्ग कहा जाता है । इस प्रकार यह प्राकृत सर्ग अबुद्धिपूर्वक हुआ ।

4. चतुर्थ सर्ग मुख्य सर्ग है – स्थावर (जड़ पदार्थ) मुख्य कहलाते हैं ।

5. पांचवा सर्ग तिर्यग्योनि (पशु–पक्षी आदि) को कहा है ।[2]

6. ऊर्ध्वस्रोतों का छठा सर्ग है, जो देव सर्ग कहलाता है ।

7. सातवाँ सर्ग अर्वाक्सोतसों का है जो मनुष्य सर्ग है ।

8. भूतादि का आठवां सर्ग भौतिक सर्ग कहा गया है ।

9. न्वम सर्ग कौमार सर्ग है । इस प्रकार नवों सर्गों में प्राकृत और वैकृत दोनों प्रकार के हैं ।[3]

सात उर्ध्वलोको का वर्णन –

पुराणों में चौहद लोकों का वर्णन मिलता है, जिसमें से सात उर्ध्व और सात निम्न लोक हैं – उर्ध्वलोाकों में सात लोकों का वर्णन मिलता है । परमात्मा ने विचार किया, मैं लोकों (लोकान सृज) की रचना करूँ। उनके एक संकल्प से ही

1. प्रथमों महतः सर्गो विज्ञेयो ब्रह्मणस्तु सः ।
तन्मात्राणां द्वितीयस्तु भूतसर्गो हि स स्मृतः ।
– म०पु०पू०वि०अ० 7

2. मुख्यसर्गश्चतुर्थस्तु मुख्या वै स्थावरा स्मृताः ।
तिर्यक्स्रोतस्तु यः प्रोक्तस्तिर्यग्योन्यः स पचंजयमः ।।
– म०पु०पू०अ० 7

3. अष्टमो भौतिकः सर्गो भूतादीनां प्रकीर्तितः ।
नवमश्चैव कौमारः प्राकृता वैकृतास्त्विमें ।।
– म०पु०पू०अ० 7

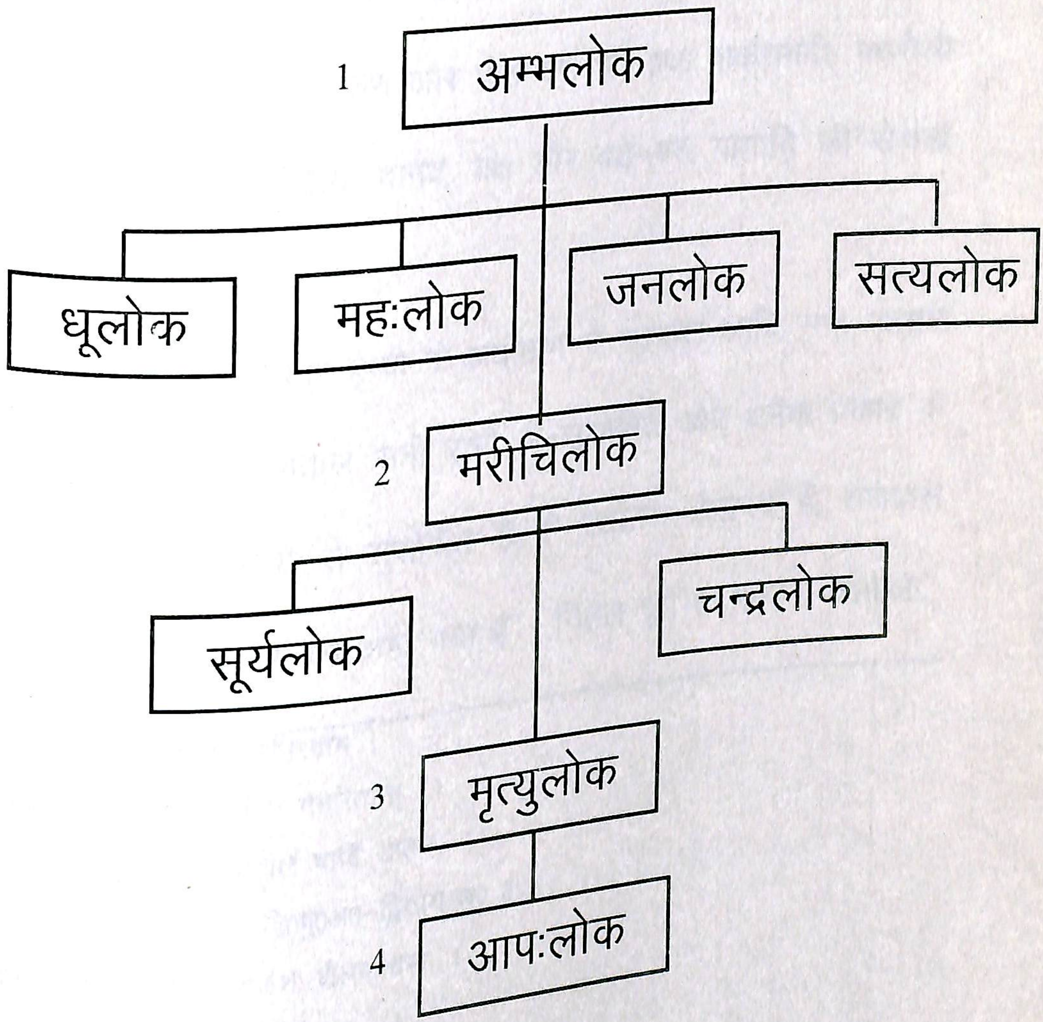
भूः, भुवः, स्वः, मह, जन, तप और सत्य लोक अस्तित्व में आ गये । भूः, भुवः, स्वः यें तीनों कृतक त्रैलोक्य कहे जाते हैं । और जन, तप और सत्य – यें तीनों अकृतक लोक कहे जाते हैं ।[1] न कृतक और अकृतक तीनों लोकों के मध्य महर्लोक कहा जाता है, जो कल्पान्त में केवल जनशून्य हो जाता है, नष्ट नहीं होता । इसलिए यह कृतकाकृत कहलाता है ।[2]

कूर्मपुराण में भी इसी प्रकार का कथन आया है कि सृष्टि के आदि में भूलोक, भुवर्लोक, स्वर्लोक , महर्लोक, जनर्लोक, तपार्लोक तिाि सत्यर्लोक – ये सातों लोक अण्ड से उत्पन्न हुये हैं ।[3]

ऐतरेयोपनिषद के ब्रह्म के अनुसार धुलोक (अम्भ) अन्तरिक्ष (मरीचि) लोक और मर्त्यलोक और जल लोक (आपः) की रचना की । अम्भ लोक में धूलोकं, महःलोक, जनलोक, तपलोक और सत्यलोक कहे गये हैं । यह स्वर्ग से आगे के प्रतीक हैं । मरीचि लोक में सूर्य, चन्द्र और तारागण विराजते हैं, जो प्रकाशवान हैं, यें स्वर्ग लोक कहे जाते हें। उसके नीचे ''मरम'' नाम से मृत्युलोक या पृथ्वीलोक विद्यमान है ।[4]

1. त्रैलोक्यमेतत्कृतंक मैत्रेय परिपठ्यते ।
   जनस्तपसस्तथा सत्यमिति चाकृतकं त्रयम् ।।
   – वि0पु0अ0तृतीय अव 7
2. कृतकाकृतयोर्मध्य महर्लोक अति स्मृतः ।
   शून्यों भवति कल्पान्ते योऽत्यन्तं न विनश्यति ।।
   – वि0पु0अ0तृतीय अ0 7
3. भूलोाकेऽथ भुवर्लोक स्वर्लोकोऽथ महस्ततः ।
   जनस्तपश्र सत्यं च लोकास्त्वण्डोदवा मताः ।।
   – कू0पु0पू0वि0अ0 39
4. अम्भो मरीचीर्मरमायोऽदोऽम्भः परेण दिवं द्यौः
   प्रतिष्ठान्तरिक्षं मरीचयः पृथ्वी मरो या अधस्ताता आप ।।
   – ऐ0उप0अ0प्रथम, ख प्रथम

ऐतरेयोपिनषद के आधार लोको का रचना क्रम



सात पाताल लोकों का वर्णन :

पाताल लोकों में अतल, वितल, नितल, तलातल, सुतल, रसातल और पाताल – यें सातों एक दूसरे से दस–दस सहस्र योजन की दूरी पर स्थित हैं ।[1] वहॉ की भूमियाँ शुक्ल, कृष्ण, अरूण और पीत वर्ण की तथा शर्करामयी, पथरीली और सुवर्णमयी है ।[2] उनमें दैत्य, दानव, यक्ष और बडे–बडे नागादि की सैकड़ों जातियां निवास करती हैं ।[3]

कर्मपुराण के कथनानुसार पृथ्वी के अधोभाग में महातल आदि सात पाताल लोक हैं।[4] महातल नामक पाताल सभी रत्नों से सुशोभित और अनेक प्रकार के महलों और शुभ्र देव मन्दिरों से सुशोभित है ।[5] रसातल शैलमय हें, तलातल शर्करामय है। सुतल पीत वर्ण का कहा गया हैं । नितल मूंगे के समान वर्णमाला,

---

1. दशसाहस्रमेकैकं पातालं मुनिसतम ।
   अतलं वितंल चैव नितलं च गभस्तिमत् ।।
   महाख्य सुतलं चाग्रय पातालं चादि सप्तम। ।।
   – विo पुoअंo–द्वितीय अo 5
2. शुल्ककृणारूणाः पीताः शर्कशः शैलकांचनाः ।
   भूमयो यत्र मैत्रेय वरप्रासादमण्डिताः ।।
   – विoपुoअo–द्वितीय अo 5
3. तेषु दानवदैतेया यक्षाश्र शताशस्तथा ।
   निवसन्ति महानागजातयश्र महामुने ।।
   – विoपुoअंo–द्वितीय अo 5
4. महातलादयश्चधः पाताल सन्ति वै द्विजा ।
   – कूoपुoपूoविoअo 42
5. महातलं च पातालं सर्वरतनोपशोभितम् ।
   प्रसादैर्विविधैः शुभ्रैर्देवतायतनैर्युतम् ।।
   – कूoपुoपूoविoअo

वितल श्वेत वर्ण का तथा तल कृष्ण वर्ण का है ।[1] इनके आदि मध्य और अन्त में रूद्र रहते है ।

महाप्रलय का वर्णन :–

जब एक ही समय में सब प्राणी उस परमात्मा में लीन हो जाते हैं, तब ये सम्पूर्ण जीव निवृत्त होकर सुख की नींद सोते हैं । इस दशा में सभी जीवों की सभी प्रकार से 'जाग्रत' एवं स्वप्न व्यापारों से निवृत्ति हो जाती है तथा सुषप्ति दशा प्राप्त होती है ।

ब्रह्मा के एक दिन को 'कल्प' कहा जाता है ।[2] कल्प के अन्त हो जाने पर उतने ही काल के लिए प्रलय भी होता है ।[3] इसी प्रलय को ब्रह्मी रात्रि भी कहा जाता है ।[4] प्रलय के समय तीनों लोक– भूः, भुवः, स्वः का प्रलय होता जाता है अर्थात् तीन लोक नष्ट हो जाते हैं । इस अवस्था में भूलोक के समस्त चराचर जीव, भुवर्लोक एवं स्वर्गलोक के समस्त जीव विनाश को प्राप्त होते हैं । किन्तु उनसे ऊपर के रहने वाले चारों लोकों के अधिकारीगण अपने–2 लोक में महः, जनः, तपः और सत्यम में ही स्थित रहते हैं ।

1. शैलं रसातलं विप्राः शार्करः हि तलातलम् ।
   पीतं सुतलमित्युक्तं नितलं विद्रुमप्रभाम् ।
   सितं हि वितलं प्रोक्तं तल चैव सितेतरम ।।
   – कू0पु0पू0वि0अ0
2. चतुर्युगसहस्रं तु कथ्यते ब्रह्मणो दिनम् ।
   – वि0पु0अं0,6अ0 3
3. स कल्पस्तत्र मनवश्चतुर्दश महामुने ।
   तदन्ते चैव मैत्रेय ब्राह्मी नैमित्तिकोलयः ।।
   – वि0पु0अं06,अ0 3
4. एकाणवीकृते लोके तावती रात्रिरिष्यते ।
   – वि0पु0अं06,अ0 3

ब्रह्म पुराण के अनुसार कल्पान्त के समय महानाश का आरम्भ हो गया । तब सूर्य, चन्द्र, सितारे नष्ट हो गये ।[1] प्रलय सूर्य आकाश में चमकने लगे, प्रचण्ड मेघ चमकने लगे, बार–बार बिजली गिरने से तरू–पर्वत टूट–फूट गये, महाभंयकर उल्कापात से सारा जगत् भस्म हो गया । सर–सरिता और समुद्र का जल सूख गया ।[2] वायु के साथ सवंर्धक अग्नि (बारह) सूर्यों से शोभित लोकों में प्रविष्ट हुआ । वहाँ नाश लीला को समाप्त कर पृथ्वी को चीरता हुआ रसातल लोक में पहुँचा, जिसे देख कर देव, दानव, रक्ष सभी भय से त्रस्त हो गये ।[3] नागलोक को जलाकर पृथ्वी और रसातल लोक में जो कुछ था, सब क्षण भर में जला डाला ।[4] इस प्रकार प्रभु ने देव, असुर, गन्धर्व, यक्ष, नाग और राक्षसों सहित सम्पूर्ण संसार को जला डाला ।[5] इस भाँति प्रचण्ड, प्रदीप्त, कल्पाग्नि नाम से प्रसिद्ध उस अग्नि ने शीघ्र ही सुर, असुर तथा मनुष्य से युक्त इस त्रिलोक को भस्म कर दिया।

1. आसीत्कल्पे मुनिश्रेष्ठाः संप्रवृते महाक्षये ।
नष्टेऽर्कचन्द्रे पवने नष्टे स्थावरजंमें ।।
— ब्र0पु0अ0 52

2. लोके च संहृते सर्वे महदुल्कानिबर्हणे ।
शुष्केषु सर्वतोयेषु सरःसु च सरित्सु च ।।
— ब्र0पु0अ0 52

3. पश्चात्स पृथ्वी भित्वा प्रविश्य च रसातलम् ।
देवदानवयक्षणां भयं जनयते महत् ।।
— ब्र0पु0अ0 52

4. निर्बहन्नागलोंक च पच्य किंचित्क्षिताविह ।
अहस्तान्मुनिशार्दूलाः सर्व नाशयते क्षणात् ।।
— ब्र0पु0अ0 52

5. सदेवासुरगन्धर्व सयक्षोरगराक्षसम ततो ।
दहति संदीप्तः सर्वमेव जगतप्रभुः ।।
— ब्र0पु0अ0 52

इसकी लपटें भयंकर और व्यापक थीं । ज्वाला प्रचण्ड थी । उसे घोर शब्द हो रहे थे । वह करोड़ों सूर्यो के समान, अपने तेज से स्वयं जलता हुआ–सा जान पडता था ।[1]

इसके पश्चात् आकाश में गजकुल के नाम के विचित्र महाघोर मेघ प्रकट हुए,[2] जिनके बीच में बिजली चमक रही थी, उनमें कुछ नीलकमल के समान, श्यामवर्ण के समान, कुछ कुमुद के समान, कुछ कमल केसर के समान थे । पितामह ब्रह्मा की प्रेरणा से उन बादलों ने पर्वत वनों सहित पृथ्वी को आच्छादित कर लिया । सम्पूर्ण दिशायं जल प्रवाह से व्याप्त हो गयी ।[3] उन घोर बादलों ने जल ही जल चारों ओर भर दिया । अत्यधिक जल से सारी पृथ्वी परिपूर्ण हो गयी, जिससे पृथ्वीतल का वह अत्यन्त भयंकर, अकल्याणकारक और प्रचण्डाग्नि शान्त हुआ । ब्रह्म की प्रेरणा से इस प्रकार बारह वर्ष तक निरन्तर वर्षा होती रही ।[4] मूसलाधार वर्षा से सभी समुद्र लबालब पानी से भर गये ओर जल की

1. महाज्वालों महार्चिष्मान्संप्रदीप्तमहास्वनः ।
त्रैलोक्यं चादहन्तूर्ण ससुरासुरमामनुषम् ।।
— ब्र0पु0अ0 52

2. ततो गजकुलप्रख्यास्तऽन्मालाविभूषिताः ।
समुत्तस्युर्महामेघा नभस्यद्भुतदर्शनाः ।।
— ब्र0पु0अ0 53

3. सर्वतः प्लाव्यामासुश्चोदिताः परमेष्ठिना ।
वर्षमाना महातोयं पूरयन्तो वसुधराम् ।।
— ब्र0पु0अ0 53

4. सुधोरमशिवं रौद्र नाशयन्ति स्म पावकम् ।
ततो द्वादश वषार्णि प्योदाः समुपप्लवे ।।
— ब्र0पु0अ0 53

अधिकता से सभी अपनी तट सीमा का उल्लघंन करने लगे, जिससे सभी पर्वत गल गये, पृथ्वी जल में निमग्न हो गयी । पुनः वे उपद्रवी, इधर–उधर घूमने वाले आकाशव्यापी मेघ वायु से टकरा कर स्वयं नष्ट हो गये ।[1] उस घोर वायु को भी आदि कमल के आधा भगवान् विष्णु ने पीकर उस घोर महासागर में सो गये ।

मत्स्य पुराण के आधार पर प्रलय का वर्णन इसी प्रकार है । वे सत्वमूर्ति नारायण सूर्य का रूप धारण कर अपनी अदीप्त किरणों से सागरों को सोख लेते हैं ।[2] इस प्रकार सभी सागरों के सुखा देने के पश्चात् अपनी किरणों द्वारा नदियों, कुओं और पर्वतों का सारा जल खींच लेते हैं ।[3] फिर वे किरणों द्वारा पृथ्वी का भेदन करके रसातल में जा पहुँचते है और वहाँ पाताल में उततम रस रूप जल का पान करते हैं । तत्पश्चात् प्राणियों के शरीर में निश्चित रूप से रहने वाले मूत्र, रक्त, मज्जा और अन्य जो गीले पदार्थों को ग्रहण कर लेते है । तदन्तर भगवान् वायुरूप होकर जगत् को प्रकम्पित करते हुए प्राण, अपान, उदान, समान और व्यानरूप पांचों प्राण वाययुओं को खींच लेते हैं ।[4] तदुपरान्त सभी

---

1. पर्वतश्च व्यशीर्यन्त मही चाप्सु निमज्जति ।
   सर्वतः सुमहाभ्रन्तास्ते प्योदा नभस्तलम् ।।
   — ब्र0पु0अ0 53
2. भूत्वा नारायणों योगी सत्तवमूर्तिर्विभावसुः ।
   गभस्तिभिः प्रदीप्ताभि संशोषयति सागरान् ।
   — म0पु0उ0वि0अ0 166
3. ततः पीत्वार्णवान् सर्वान् नदीः कूपांश्व सर्वशः ।
   पर्वतानां च सलिलं सर्वमादाय रश्मिभिः ।।
   — म0पु0उ0वि0अ0 166
4. वायुश्व भगवान् भूत्वा विधुन्वानोडरिवलं जगत् ।
   प्राणापानसमानघान् वायुनाकर्षते हरिः ।।
   — म0पु0उ0नि0अ0 166

देवगण पाँचों महाभूत, गन्ध, प्राण, शरीर – यें सभी गुण पृथ्वी में विलीन हो जाते हैं । इस प्रकार भगवान् दो घडी में सारी लोकमाया को नष्ट कर देते हैं ।

तत्पश्चात् भगवान् की प्रेरणा से अग्नि सैकडों ज्वालायें फैंकने लगती है । वह पर्वतीय वृक्षो सहित गुल्मों, लताओं, घास–फूसों, दिव्य विमानों, अनेकों नगरों तथा अन्यान्य जो आश्रय लेने योग्य स्थान होते हैं, [1] उन सबको जलाकर भस्म कर देती हैं । इस प्रकार सम्पूर्ण लोकों को जलाकर पुन युगान्तकालिक कर्म द्वारा समूची सुष्टि का विनाश कर देते हैं ।[2]

तदुपरान्त वह विष्णु सैकड़ों हजारो प्रकार से वर्षारूप धारण कर पृथ्वी को तृप्त करता है । बरसते हुए जल के उस घेरे से आच्छादित हुई पृथ्वी समस्त प्राणियों से रहित हो एकार्णव जल के रूप में परिणत हो जाती है ।[3]

उस समय चराचर जगत् परमात्मा में विलीन हो जाता है । वह अमित पराक्रमी, एकार्णव जल में व्याप्त रहने वाले योग का आश्रय लेकर अनेकों युगों

---

1. अदहक्ष तदा सर्वे वृतः संवर्तकोऽनलः ।
   सपर्वतद्रुमान् गुल्मॉल्लतावल्लीस्तृणामि च ।।
   – म0पु0उ0नि0अ0 166

2. भस्मीकृत्य ततः सर्वोल्लोकांल्लोकगुरूर्हरि ।
   भूयो निर्वापयामास युगान्तेन च कर्मणा ।।
   – म0पु0उ0नि0अ0 166

3. सहस्रवृष्टिः शतधा भूत्वा कृष्णों महाबलः ।
   दिव्यतोयेन हविषा तर्पयामास मेदिनीम् ।।
   – म0पु0उ0वि0अ0 166

तक शयन करते हैं।[1] उस समय न कोई उन्हें देख सकता है, न कोई वहाँ जा सकता है, न उन्हें कोई जान सकता है । इस प्रकार आकाश, पृथ्वी, वायु, जल, अग्नि, प्रजापति, पर्वत सुरेश्वर पितामह ब्रह्मा, वेदसमूह और महर्षि – इस सभी को शान्त कर वे पुनः शयन की इच्छा करते हैं ।[2]

विष्णु पुराण में भी प्रलय का वर्णन बड़े वैज्ञानिक ढंग से किया गया है, जिसे आधुनिक भूगर्भ विशेषज्ञ भी समुचित रूप से स्वीकार करते हैं । अनावृष्टि आदि के संयोग से सम्पूर्ण संसार तथा पातालों के नष्ट होने पर भगवत् इच्छा से उस प्रलयकाल के होने पर जब महत्तत्व पर्यन्त सम्पूर्ण विकार क्षीण हो जाते हैं, तो सबसे पहले जल पृथ्वी के गुण गन्ध को अपने में लीन कर लेता है । इस प्रकार गन्ध के छिन जाने पर पृथ्वी का प्रलय हो जाता है ।[3]

गन्धतन्मात्रा के नष्ट हो जाने पर पृथ्वी जलमय हो जाती है , उस समय बड़े वेग से घोर शब्द करता हुआ जल चारों ओर व्याप्त हो जाता है । इस प्रकार तरंगों से पूर्ण इस जल से सम्पूर्ण लोक सब ओर से आच्छादित हो जाते हैं ।

1. पौराणं रूपमायाय स्वपित्यमितंविक्रमः ।
एकार्णवजलव्यापी योगी योगमुपाश्रितः ।
अनेक सहसग्राणि युगान्येकाणवाम्भसि ।
– म0पु0उ0वि0अ0 166

2. नभः क्षितिं पवनमपः प्रकाशं प्रजापति भुवनधरं सुरेश्वरम् ।
पितामहं श्रतिनिलयं महामुनिं प्रशम्य भूयः शयनं ह्यरोचयत् ।।
– म0पु0उ0वि0अ0 166

3. आपो ग्रसन्ति वै पूर्व भूमेर्गन्धात्मक गुणम ।
आत्तगन्धा ततो भूतिः प्रलयत्वाय कल्पते ।।
– वि0पु0अं0 6,अ0 4

उसके बाद जल के गुण रस को तेज अपने में लीन कर लेता है । इस प्रकार रसतन्मात्रा का क्षय हो जाने पर जल भी नष्ट हो जाता है ।[1] तब रसहीन होने से जल अग्निरूप हो जाता है । अग्नि सब ओर फैलकर सम्पूर्ण जल को शुष्क कर देता है और धीरे–धीरे यह सम्पूर्ण जगत् ज्वाला से पूर्ण हो जाता है । उस समय अग्नि के प्रकाश स्वरूप को वायु अपने में लीन कर लेता है अर्थात् अग्नि का प्रलय हो जाता है ।[2]

तदनन्तर अपने उद्भव स्थान आकाश का आश्रय लेकर वह प्रचण्ड वायु ऊपरी–नीचे तथा सब दिशाओं में बड़े वेग से चलने लगता है । वह वायु के गुण स्पर्श का अपने में लीन कर लेता है । और आकाश आवरणहीन हो जाता है । इस प्रकार वायु का प्रलय हो जाता है ।

प्रलयकाल में पृथ्वी आदि भूत परस्पर अपने–2 कारणों में लीन हो जाते हैं। जिससे यें समस्त लोक व्याप्त हैं, वह सम्पूर्ण भू–मण्डल सातों द्वीप, सातों समुद्र, सातों लोक सकल पर्वत श्रेणियॉ जल मे लीन हो जाते हैं ।

हरिवंश पुराण में प्रलय काल का वर्णन इस प्रकार से किया गया है कि एक सहस्र चतुर्युग पूर्ण होने पर अन्त में जब ब्रह्मा का दिन समाप्त हो जाता है[3]

---

1. अपामपि गुणों यस्तु ज्योतिषा पीयते तु सः ।
   नश्यन्त्यापस्ततस्ताश्र रसतन्मात्रसंक्षयात् ।।
   – वि0पु0अं0 6, अ0 4

2. स चाग्निः सर्वतो त्यात्य चाढते तज्जलं तथा ।
   सर्वमपूर्यतेऽर्चिभिस्तदा जगदिदं शनैः ।।
   – वि0पु0अ0 6, अ0 4

3. पूर्ण युगसहस्रान्ते ब्रह्मऽहिन तथागते ।
   निर्वाणे सर्वभूतानां सर्वोत्पातसमुदवे ।।
   – हरि0पु0 अ0 33

और सब प्रकार के उत्पातों से सभी प्राणियों का संहार होने लगता है, उस समय अग्नि, वायु और सूर्यरूप तीन शिखा वाले भयंकर अग्निदेव प्रकट होते हैं, जो ब्रह्मा, विष्णु और शिवुरूप है । वे अपनी शिखा द्वारा विविध लोकों तथा समस्त देहधारियों का शोषण कर लेते हैं । उस अग्नि की ज्वालामय मुखों और तेज की राशियों से अंग दुग्ध होने के कारण श्री हीन हुए , वेदों में उनके अंग, उपनिषद्, पुराण आदि सब परमाम्ता में प्रविष्ट हो जाते हैं । प्रलय काल का दिन आने पर तैंतीस कोटि देवता भी उसी में प्रविष्ट हो जाते हैं ।[1]

सहस्र चतुर्युग पूर्ण हो जाते पर एक कल्प का संहार हो जाता है । फिर उसमें से कुछ भी शेष नहीं रह जाता । उस अवस्था में जीव का किया हुआ सब नष्ट हो जाता है । देवता, असुर और नाग सहित सम्पूर्ण लोकों का संहार करके उन्हें अपने उदर में स्थापित कर एकमात्र भगवान् हरि शेष रह जाते हैं ।

जब जगत् से सूर्य की किरणों का लोप हो जाता है । चन्द्रमा की रश्मियाँ भी नहीं रह जाती है, अग्नि और पवन भी परित्यक्त हो जाती है, यज्ञ और षठ प्रकार की क्रियाएँ सर्वथा क्षीण हो जाती है [2], पक्षियों का समूह नहीं रह जाता है।

1. दह्यमानास्ततस्तस्य तेजोराशिभिरग्रतः ।
विवर्णवर्णा दग्धां हतार्चि। ष्यद्भिराननैः ।।
ब्रह्माणमग्रतः कृत्वा छनद तो विश्वतोमुखम् ।
तेषां भूयः प्रविष्टानां निधनोत्पत्तिरूच्यते ।।
सहृत्व्य लोकान् सर्वान् स सदेवासुरपन्नगान् ।
कृत्वाऽऽत्मगर्भ भगवानास्ति एको जगदगुरू ।।

2. नष्टार्ककिरणे लोके चन्द्ररश्मिविवर्जिते ।
व्यक्तभूताग्निपवने क्षीर्णयज्ञवषटक्रिये ।।

— हरि0पु0अ0 33

इस जगत् में चारों ओर शान्ति छा जाती है, सबका अन्त हो जाता है, वैर विरोध नष्ट हो जाते हें, सब लोग अपनी स्वभाविक स्थिति में पहुँच जाते हैं, उस समय नारायण शयन की तैयारी करने लगते हें । समस्त लोकों के पितामह तथा अतिपराक्रमी नारायण योगनिद्रा का आश्रय ले अनिर्वचनीय ढंग से सो जाते हैं ।[1]

मार्कण्डेय पुराण के अनुसार जब यह संसार प्रकृति में लीन हो जाता है, उसी अवस्था को विद्वानों ने प्रलय कहा है । जब सब कुछ आत्मा में अवस्थित हो जाता है, जब सब पदार्थ, अदृश्य हो जाते हैं । जब प्रकृति पुरुष दोनों साधर्म्य में प्रतिष्ठित होते हैं , उस समय सत्व और तम दो ही गुण समान भाव से अधिष्ठान करते हैं । उस समय उनमें से कोई घटता या बढता नहीं है । वे दोनों ताने बाने के समान, समभाव से परस्पर संयुक्त अधिष्ठित रहते हें, जैसे– तिल में तेल, वैसे ही सतोगुण भी रजोगुण और तमोगुण में विद्यमान है ।[2]

---

1. गते स्वाभावसंस्थानं लोके नाराष्णात्मके ।
   परमेष्ठी ह्रषिकेशः शयनायोपचक्रमे ।।
   ततः स्वपिति धर्मात्मा सर्वलोकपितामहः ।
   किमप्यमितविक्रान्तो निद्रायोगमुपागतः ।।
   – हरि0पु0अ0 33

2. यदातुप्रकृतौयातिलयंविश्वमिदजगत् ।
   तदोच्यतेप्राकृतोड़्यनिंश्वमिदजगत् ।।
   स्वात्मन्यवस्थितेऽव्यक्ते विकारेप्रतिसंहृते ।।
   प्रकृति पुरूषश्चैवसाधर्म्यणतिष्ठतः ।
   – मार्क0पु0अ0 38

ईश्वरीय सृष्टि और मानवीय सृष्टि में अन्तरः–

ईश्वरीय सृष्टि में कोई भेदभाव नहीं है । जो कुछ जितना है समान भाव से सबके लिए उपलब्ध है । सूर्य, चन्द्र, वायु, जल, ताप आदि सब एक समान ही उपलब्ध हैं । वृक्ष, नदी, झरने, वनस्पति, पर्वत और समुद्र सारे संसार के लिए समान रूप से प्रदान किय गये हैं । यह आकाश, तारामण्डल और ग्रह नक्षत्र सब पर एक प्रकार से ही प्रभाव डालते हैं । ईश्वर ने कोई भी वस्तु किसी जाति, धर्म, सम्प्रदाय, वर्ण, वर्ग, रंग, रूप आकार और विशिष्ट जीव या मानव अथवा प्राणी के लिए नहीं बनाई । वह सबके लिए बने हैं । धूप चाँदनी और पुष्पों की सुगन्ध सबके लिए है । यहाँ मानव, पशु, पक्षी, कीट पंतग, महात्मा–दुरात्मा, पापी–पुण्यात्मा और नर या मादा किसी के लिए कोई भेद नहीं किया गया है । साथ ही प्राकृतिक नियम सबके लिए एक रूप से लागू होते हैं ।

दूसरी ओर मानुषी सृष्टि है । धर्म, जाति, वर्ण, वर्ग, सम्प्रदाय, रूप , रंग और आकार तथा नर व नारी के रूप में बँटी हुई यह सृष्टि मूलतः भेदभाव पर आधारित हें । सबसे अधिक बुद्धिमान प्राणी–मुनष्य ने स्वार्थ और अहंकार के वशीभूत होकर ऐसे--ऐसे कृत्य किये हैं कि मानवता को कहीं मुँह दिखाने के लिए नहीं छोडा । बडप्पन, छोटापन, ऊँच–नीच, छुआछूत को लेकर मानवता को सैकड़ों घेरों में कैद कर दिया है । धर्म के अब तक करोडों लोगों के खून से धरती रंगी है । स्वार्थन्धता, कामान्धता और बलान्धता के बहुत बडे कहर ढाये है। ईर्ष्या, द्वेष, घृणा, अत्याचार, अनाचार, व्यभिचार, बलात्कार, चोरी, ठगी, लूट–खसोट, धूर्तता, मक्कारी आदि ने कुत्सित, घिनौनी और कूर मानवी सृष्टि को

जन्म दिया है । मानवों ने अपनी–अपनी बुद्धि का प्रयोग प्रायः अपने कुत्यित स्वार्थों को पूरा करने में किया है । पशु, पक्षी, कीट, पंतग और समस्त प्राणी इसी क्रुर मानव ही दानवता का शिकार हुए हें । इसके सब कुछ अपने लिए प्रयुक्त किया है और अन्याय, शोषण पर पीडा और अत्याचारों का पाशविक खेल खेला है।

मनुष्य अधिकाशतः ऐसी ही सृष्टि का निर्माण करता रहा है, किन्तु ईश्वरीय सृष्टि सदा बालका वात्सल्य और करूणा की वर्षा. करती रही है । उसका प्रयत्न सदा मानवी सृष्टि को संवारने का ही रहा है । मानव में समता, शान्ति और सुख लाने का रहा है । यद्यपि मानव अपने दुष्कर्मों में कोई कमी नहीं करता ।

तृतीय अध्याय

1— जीव का स्वरूप एवं सामर्थ्य

2— जीव का जन्म

3— जीव के कर्म

4— जीव की योनियाँ एवं मनुष्य जन्म की श्रेष्ठता

1– परम तत्व परमात्मा सर्वव्यापक होने के कारण परमशान्तिरूप है । उसकी एक धारा जो स्वयं अनन्त है चैतन्य धारा है । उसकी ही दूसरी धारा जड़ रूप है। दोनों के अंश अर्थात् जब चैतन्य अंश का जड़ अंश से संयोग होता है, तो जड़ चेतन की ग्रन्थि बन जाती है:यही जीव है ।

2– जीव ईश्वर भी है, जड़ भी है और जड़ चेतन का संयौगिक रूप भी है । वह स्वतन्त्र इच्छा रखता है, किन्तु परिणाम भोगने में प्रकृति की क्रिया प्रतिक्रिया के परिणाम से संचालित होता है । यही उसकी विवशता है ।

3– संसार की असंख्य, अनगिनत और अज्ञात योनियों अथवा प्राणियों की जातियों–प्रजातियों में मानवयोनि सर्वश्रेष्ठ है । वास्तव में यही ईश्वर का अपने को प्रकट करने हेतु उसका अपना ही सर्वोत्तम रूप है । स्वयं संचालित सुन्दर चैतन्य संयत्र है, जिसमें हड्ड़ियाँ, मांस, रक्त, मज्जा, वीर्य आदि अनेक रसों से बनी मूर्ति है । असंख्यनाड़ियों की धारायें उसे सींचती रहती है । मन, बुद्धि उसे व्यवस्थित, संचालित और प्रेरित करते हैं । प्राण उसे गतिशील उर्जा देकर गतिमान करता रहता है अहंबोध उसकी अपनी व्यक्तिगत पहचान का सुक्ष्मतम परमाणु रूप है,जो ईश्वर के चैतन्य अंश में घुलकर उसे 'मैं हूँ' अर्थात एक इकाई या जीव संज्ञा देता है ।

4– मानव जीवन की यह सामर्थ्य है कि वह अवतारी पुरुष भी बन सकता है । अपने अविनाशी अजर–अमर रूप को भी जान सकता है । यदि चाहे तो संसार मे बिषय भोगों में पागलों की तरह अन्धासक्त होकर अपना सर्वनाश

कर नर पिशाच भी हो सकता है, यही मानव योनि में जीव की सामर्थ्य है।

जीवका स्वरूप एवं सामर्थ्य :—

'मैं कौन हूँ' यह सदैव एक प्रश्नचिन्ह बनकर मानव के साथ खड़ा रहता है। मानव उसे भुलाकर अपने मन को संसार के बिषयों में लगा देते है । ज्ञानेन्द्रियों को बिषय भोग के लिए खोल देता है । हम इस प्रश्न को भूल जाते हैं कि 'वह कौन है'। इस शरीर में रहने वाला चैतन्य क्या है, जिसके अलग जाने पर उनकी मृत्यु मान ली जाती है ।

यह तो विदित है कि मानव के पास एक शरीर रूपी उच्चकोटि का ढ़ाँचा है । इसमें ज्ञानेन्द्रियॉ और कर्मेन्द्रियॉ लगी है । मन जो चाहता है वह करवाता है। हम सब गुलाम बनकर वैसा ही करते जाते हैं । कभी सोचने की कल्पना भी नहीं करते कि उसके अतिरिक्त 'वह' भी है, जो उस शरीर को कार्य करने की शक्ति प्रदान करता है। बुद्धि का कार्य अध्ययन, चिन्तन, मनन, तक–वितर्क, निर्णय करना है । बुद्धि उसमें श्रेष्ठ शक्ति होते हुए भी उसी के वशीभूत होकर उस इच्छा को पूर्ण करने मे अपनी सारी क्षमता लगा देती है ।

अतः यह मानव शरीर जड़ तत्वों से बना एक ढ़ाँचा है, उसमें मन, बुद्धि और अहंकार रूपी जड़ शक्तियाँ उसे संचालित करती हैं और इस संचालन को गति, प्रेरणा, चैतन्यता और क्रियाशील करने वाला ईश्वरीय अंश है, जो अहं में घुल जाने से अपने को एक इकाई या अहंबोध 'मैं' का अनुभव करता है । उसे यह ईश्वरीय अंश 'मैं' बोध के कारण अपना समझता है । सुखी दुःखी होता है ।

शरीर के मृत हो जाने पर अहं, बुद्धि, प्राण और जड़ शरीर की तन्मात्राओं के साथ ही उस जीवन के समस्त विचारों, संस्कारों और वृत्तियों को सुक्ष्म तरंग रूप में लपेटे हुए निकल जाता है । वह यही समझता है कि मेरी मृत्यु हो गई । समय आने पर अपने ही कार्यों से सम्बन्धित परिणामों को भोगने के लिए अपनी–अपनी अन्तिम वृति के अनुसार चौरासी लाख प्रकार की योनियों के किसी ढाँचे में भ्रूण के साथ ही संयुक्त हो जाता है । यही उसका जन्म कहलाता है । ईश्वरीय अंश जड़ प्रकृति के घटकों से मिलकर जीवात्मा' कहलाता है ।

यह जीवात्मा अनन्त व्यापक चैतन्य के परमाणु रूप अंश का जड़ प्रकृति से बना यौगिक रूप है,जिसमें 'मैं' उत्पन्न हो जाता है । यही 'मैं' की अनुभूति जड़ और चैतन्य की ग्रन्थि है, अटूट ग्रन्थि । एक नया पूर्ण स्वतन्त्र अस्तित्व तैयार हो जाता है । यह प्रकृति के नियमों से बद्ध होकर विविध योनियों को प्राप्त करता है। इसी को जन्म–मरण की प्रतीति होती है । यह जन्म–भरण है ।

जब यह जो अणुमात्रक (परमात्मा का अणु–अंश रूप) काल, मन, बुद्धि, कामना, कर्म वायु तथा अविद्या अर्थात अज्ञान स्वरूपावस्था में ही वृक्ष आदि स्थिर बुद्धि योग्य बीज, गमनशील अर्थात आवागमन करने वाले बीज, गमनशील अर्थात आवागमन करने वाले मनुष्य आदि रूपों में बीज में प्रवेश करता है, तो स्थूल देह को धारण करता है ।

अतः यह स्पष्ट है कि जीवात्मा ईश्वरीय अंश + जड़ प्रकृति के घटकों को यौगिक रूप जीव को 'अहंरूप' हो जाने के कारण अनन्त चैतन्य अंश रहते हुए भी अपने सच्चे स्वरूप का बोध नहीं होता । अज्ञानवश उनसे सुखी दुःखी होता है

वह अपने सच्चे स्वरूप को भूल जाता है । वह अल्पज्ञ और अशक्त होता है । संस्कारों के जाल अपने को भोक्ता मानने के कारण बद्ध होता है । इसी को जड़ + चैतन्य की ग्रन्थि कहा जाता है । इसकी ग्रन्थि पड़ते ही जीवात्मा को भ्रम होता है कि 'मैं' हूँ । वास्तव में यह 'मैं' अहं नाम के सूक्ष्माति सूक्ष्म तत्व के परमाणु के उसमें घुल जाने के कारण होता है, जो वास्तविक नहीं है । ईश्वर चैतन्य अंश वैसा ही रहता है ।

जीवात्मा इच्छा करने में पूर्ण स्वतन्त्र है,जो चाहे अपनी सामर्थ्यानुसार कर सकता है । अब न वह ईश्वर है, न जड़ प्रकृति है, किन्तु दोनों का यौगिक रूप है । अतः ईश्वर भी है और जड़ प्रकृति भी है । बस वह अपने सच्चे वास्तविक स्वरूप को भूल जाता है । नया अस्तित्व प्राप्त करता है । परिणाम सब जानते हैं। वही चैतन्य अंश योगिक बन जाने से वृक्ष, वनस्पति–लता, पशु, पक्षी, जलचर, नभचर, अण्ड़ज, उद्‌भिज सभी रूपों में और अपने सर्वश्रेष्ठ स्वरूप 'मानवाकार' में भी प्रकट होता है ।

जीव को केवल इसी मानवाकार स्वरूप में कार्य करने की स्वतन्त्रता होती है । वह चाहे तो राक्षस, दैत्य व पिशाच बनकर विनाश कर दे अथवा सज्जन, देवता, संत बन कर इस जगत् को स्वर्ग से भी सुखकर बना दे । दोनों उसके हाथ में हैं । वह आत्मज्ञान प्राप्त कर पुनः अपने ईश्वरीय स्वरूप में स्थित भी हो सकता है अथवा इस संसार में अनन्त काल तक जीता और मरता अनुभव करता रह सकता है । और जन्म–मरण के चक्र में घूमता है । परमात्मा पूर्ण ज्ञान स्वरूप है । अतः सर्वदा पूर्ण स्वतन्त्र एवं स्वयंभू है । उसे कोई बन्धन नहीं है ।

संयोगावस्था का प्रभाव :—

एक महान आश्चर्य की बात है । अविश्वसनीय लगने पर भी सत्य है । दो बिलकुल विपरीत गुण वाले तत्वों से ऐसे तत्व का निर्माण हो जाता है, जो अपने बनने वाले के ही पूर्णतया प्रतिकूल होता है, जनसे मिलकर वह बना है । उसके गुण तथा प्रभाव सब ही पूर्णतया उलट जाते हैं । वह दूसरे ही गुण वाला हो जाता है ।

हम जल पीते हैं । वह शीतल होता है, और वह आग को भी बुझा देता है। किन्तु अग्नि जलाती है, भस्म कर देती है । हाईड्रोजन एक तत्व हैं, जो अति प्रजवलनशील हैं, स्वयं जलता है । आक्सीजन भी एक तत्व है जो आग को जलाने में पूर्ण सहायक है । एक जलता है, एक जलाता है । दोनों ही अग्नि के स्वरूप मे तत्व जबः यौगिक रूप ग्रहण करते हैं, तो हाइड्रोजन के दो और आक्सीजन का एक परमाणु जो यौगिक बनाता है, उसे एच–टू–ओ (H_2O) अर्थात पानी कहते हैं । यही इनकी ग्रन्थि है । यही योग है । इसका योग बन जाने पर पानी बन जाता है । अग्नियाँ जलाती हैं, किन्तु एक स्थिति में दो अग्नियाँ ही योग करके बिलकुल उल्टे प्रभाव वाले जल का निर्माण करती है । यह स्थिति तो दोनों जड़ तत्वों के यौगिक की है ।

जड़ + चैतन्य योग का परिणाम :—

अनन्त परमात्मा पूर्ण चैतन्य सामान्य रूप सत्ता है । सबमें समाया हुआ है। जो सर्व व्याप्य है, वह आएगा—जाएगा कहाँ? अर्थात सर्वव्याप्यता के कारण उसमें

कोई गति नहीं होती । वह परमशांत, परम विज्ञान रूप से सर्वव्यापक है । अतः पूर्णोतिपूर्ण स्थिर है, अटल एवं अचल है । सब उसी में समाए हुए हैं ।

दूसरी ओर जड़ प्रकृति ,यह भी अनन्त विस्तार वाली है । किन्तु जड़ है, पूर्ण जड़ । इसमें स्वयं गतिशील होने की कोई सम्भावना ही नहीं है, जब तक बाहर से कोई बल न लगाया जाये । अतः पूर्ण गतिहीन है ।

वह सर्व व्यापक अचल पूर्ण निष्क्रिम और पूर्ण शान्त चैतन्यमय सत्ता का अंश जड़ और पूर्ण गतिहीन प्रकृति के अशं से यौगिक बनाती है, तो एक स्थिति में पहुँच कर दोनों के योग से एक नई जड़ चैतन्यमयी सत्ता का जन्म हो जाता है,[1] जो ''जीवात्मा'' कहलाता है । शरीर एवं मन, बुद्धि अहंकार तो पूर्ण जड़ है, किन्तु परमशान्त एवं निष्क्रिय चैतन्य अंश के संयोग एक गतिमान, चंचल, स्वेच्छा वाली स्वतन्त्र सत्ता बन जाती है । यह जीव है ।

जीव का जन्म :–

जब जीव को इस संसार में मनुष्य योनि मे जन्म लेना होता है, तो वह भगवान् की प्रेरणा से अपने पूर्वकर्मानुसार देह प्राप्ति के लिए पुरूष के वीर्य कण के द्वारा स्त्री के उदर में प्रवेश करता है,[1] अर्थात समय आने पर अपने कर्मो से सम्बन्धित परिणामों को भोगने के लिए अपनी–अपनी अन्तिम वृत्ति के अनुसार

1– ईश्वर अंस जीव अविनासी चेतन अमल सुखरासी ।
जड़ चेतनहिं ग्रन्थि भयउ गुसाई । जदपि मृषा छूटत नाहीं ।।
– रा0 च0 मा0

2– कर्मणा दैवनेत्रेण जन्तुर्देहोपपत्तये ।
स्त्रियाः प्रविष्टः उदरं पुंसो रेतः कणाश्रयः ।।
– भा0 पु0 स्क0 तृतीय अ031

चौरासी लाख प्रकार की योनियों के किसी शरीर में भ्रूण के साथ ही संयुक्त हो जाता है, यही उसका जन्म कहलाता है।

वह वीर्य कण वहाँ एक रात्रि में स्त्री के रज में मिलकर कलल से बनता है, पाँच रात्रि में बुदबुद् रूप हो जाता है, दस दिन में बेर के समान कुछ कठोर हो जाता है । उसके बाद मांस–पेशियाँ और रक्त का पिण्ड़ बनता है अथवा अण्ड़ज प्राणियों में अण्ड़े के रूप में परिणत हो जाता है ।[1]

एक महीने में सिर निकल आता है, दो मास में हाथ–पाँव आदि अंगों का विभाग हो जाता है और तीन महीने में नख, रोम, अस्थि, चर्म, स्त्री पुरूष के चिन्ह तथा अन्य छिद्र उत्पन्न होते हैं ।[2] चार मास में उसमें सात धातुएँ पैदा हो जाती है, पाँचवे महीने भूख प्यास लगने लगती है और छठे मास में झिल्ली से लिपट कर घूमने लगता है ।[3] उस समय माता द्वारा खाए हुए अन्न जल से उसका शरीर पुष्ट होता है और वह कृमि आदि जन्तुओं के उत्पत्तिस्थान मल मूत्र के गढ़े

1– कललं त्वेकरात्रेण पंचरात्रेण बुद्बुद्म ।
दशाहेन तु कर्कन्धूः पेश्यण्ड़ं वा ततः परम् ।।
– भा0 पु0 स्क0 तृतीय अ031

2– मासे तु शिरो द्वाभ्यां बाहड्ध्याद्यडंग्विग्रहः ।
नखलोभास्थिचर्माणि लिंगच्छिद्रोद्ववस्त्रिभिः ।।
– भा0 पु0 स्क0तृतीय अ031

3– चतुर्भिर्धातवः स्पत पन्चभिः क्षुन्तृड्उद्भव : ।
षड़भिर्जरायुणा वीतः कुक्षो भ्राम्यति दक्षिणे ।।
– भा0 पु0 स्क0तृतीय अ031

में पड़ा रहता है ।[1] सुकुमार होने के कारण वहाँ के भूखे कीड़े उसके अंग–प्रत्यंग को नोचते हैं । तब अत्यन्त क्लेश के कारण क्षण–क्षण मुर्छित होता है । वह जीव माता के गर्भाशय में झिल्ली से लिपटा तथा आंतों से घिरा रहता है । उसका सिर पेट की और पीठ और गर्दन कुण्ड़लाकार मुड़े होते हैं ।[2]

वह पिंजड़े के बंद पक्षी के समान अपने अंगों को हिलाने–डुलाने में भी असमर्थ रहता है । उसी समय किसी अज्ञात शक्ति के द्वारा उसे

स्मरण शक्ति प्राप्त होती है उसे अपने सैकड़ों जन्मों के कर्म याद आ जाते हैं और वह बेचैन हो जाता है तथा उसका दम घुटने लगता है । ऐसी अवस्था में उसे क्या शान्ति मिल सकती है ।[3] सातवॉ महिना आरम्भ होने पर ज्ञान शक्ति का उदय होता है, परन्तु प्रसूति वायु से चलायमान रहने के कारण एक स्थान पर नहीं रहता । तब वह जीव अत्यन्त भयभीत होकर परमात्मा की याचना करता हैं, जिसनें उसे माता के उदर में डाला है ।[4] शरीर के मोह से ही जीव गर्भ में आता

1– मातर्जग्धान्नपानाद्यैरेधद्वातुरसम्मते ।
शेते विण्मूत्रयोर्गर्ते स जन्तुर्जन्तुसम्भवे ।।
– भा0 पु0 स्क0तृतीय अ031

2– उल्बेन संवृतस्तस्मिन्नन्त्रैश्च बहिरावृत ।
आस्ते कृत्वा शिरः कुक्षौ भुग्नपृष्ठाशिरोधरः ।।
– भा0 पु0 स्क0तृतीय अ031

3– तत्र लब्धस्मृतिदैवात्कर्म जन्मशतोद्भवम् ।
स्मरन्दीर्घमनुच्छासं शर्म किं नाम विन्दते ।।
(भा0पु.स्क.तृतीय अ03)

4– नाथमान ऋषिर्भीतः सप्तवध्रिः कृताञ्जलिः ।
स्तुवीत वं विक्लवया वाचा येनादरेऽर्पितः
(भा0पु.स्क.तृतीय अ03)

है । वहाँ वह झिल्ली में बंधा दो पर्वतों के मध्य दबे प्राणी जैसे कष्ट पाता है । समुद्र के जल में डूबने के समान गर्भ के जल में व्याकुल रहता है और जठराग्नि उसे ऐसे तपाती है,[1] जैसे किसी को जीते जी कड़ाहें के तेल में खोलाया जाए । आठ महीने उसे ऐसी ही वेदना रहती है ।

गर्भवास से भी करोड़ों गुणा अधिक कष्ट जन्म लेते समय होता है । गर्भ में जो सद्बुद्धि जाग्रत होती है, वह जन्म लेते ही नष्ट हो जाते हैं ।[2]

बाहर की हवा लगते ही मूढ़ता आ जाती है । मोह ग्रस्त होकर जीव इसी देह में अनुराग करने लगता है । राग और मोह के वश होकर संसार में न करने योग्य पाप कर्म करता है ।

बाल्यकाल में इन्द्रियों की वृतियाँ असमर्थ रहती है । शिशु दूसरे के अधीन रहता है । भूख–प्यास, मच्छर आदि के काटने तथा दूसरों के कष्टों को वह बता नहीं सकता। कुछ बड़े होने पर दांत निकलने से कष्ट होता है ।[3] माता के खान–पान का क्लेश भी उसे भोगना पड़ता है । वह केवल रोता रहता है । कुछ करने में समर्थ नहीं होता ।

1. देहन्यदेहविवरे जठराग्निनासृग् विष्मूत्रकूपपतितो भृशतप्देहः ।

(भा0पु.स्क.तृतीय अ03)

1. तेनावसृष्ठः सहसा कृत्वावाक् शिर आतुरः ।
विनिष्क्रामति कृच्छ्रेण निरूच्छ्वासों हतस्मृतिः ।।

(भा0पु0स्क0तृतीयअ0–3)

२. शायितोंऽशुचिपर्यङ्ड़ेक जन्तुः स्वेदजदूषिते ।
नेशः कण्ऽगनेड़ड़ेनामासनोत्थानचेष्टने ।।

(भा0पु0स्क0तृतीयअ0–3)

युवावस्था आने पर काम और रोग के कारण पुरूषाभ्गत वाला हो जाता है । ईर्ष्या और आसक्ति उसे उद्विग्न किये रहती है । कामी, क्रोधी ओर महासक्त को भला सुख कहाँ, उसे तो निद्रा भी नहीं आती ।[1] दिन में द्रव्य के उपार्जन की चिन्ता और श्रम से व्याकुल रहता है और स्त्रियाँ सब दोषी का आश्रय है, यह जानकर भी वह उन्हीं के पीछे पागल बना रहता है ।[2]

युवावस्था के बाद बुढ़ापा आ ही जाता है और बुढ़ापे में शक्ति नष्ट हो जाती है। रूप कुरूप हो जाता है । नेत्र देख नहीं पाते, कानों से सुनाई नहीं देता, दांत गिर जाते हैं । खाई हुई वस्तु पचती नहीं । स्त्री–पुत्र, सगे–सम्बन्धी बार–बार अपमान करते हैं। वृद्धावस्था में रोग घेर लेते हैं । उस समय पुरूष अर्थ, धर्म, काम या मोक्ष किसी का साधन नहीं कर सकता इस प्रकार जीवन समाप्त हो जाता है ।

जीव सूक्ष्म शरीर के द्वारा एक लोक से दूसरे लोक में जाता है और अपने प्रारब्ध कर्मों को भोगता हुआ निरन्तर अन्य देह की प्राप्ति के लिए दूसरे कर्म करता रहता है।[3] जीव का यह उपाधिरूप लिंग शरीर तो मोक्ष पर्यन्त उसके

1– इत्येवं शैशवं भुक्त्वा दुःख पौगण्डमेकच ।
अलब्धभीप्सितोऽज्ञानादिद्धमन्युः शुचार्पितः ।।
(भा0पु0स्क0तृतीयअ0–3)

2– बलं मे पश्य मायायाः स्त्रीमय्या जयिनो दिशाम् ।
या करोति पदाक्रान्तान् भ्रूविजृम्भेण केवलम् ।।
(भा0पु0स्क0तृतीय अ0–31)

3– देहेन जीवभूतेन लोकाल्लोक्मनुप्रजन ।
भुंजान एवं कर्माणि करोत्यविरतं पुमान ।।
(भा0पु0स्क0तृतीय अ0–31)

साथ रहता है तथा स्थूल शरीर इसका भोग–अधिष्ठान है । इन दोनों का परस्पर संगठित होकर कार्य न करना ही प्राणी की मृत्यु है और इन दोनों का साथ–साथ प्रकट होना ''जन्म'' कहलाता है ।[1]

गरूड़ पुराण में भी इस प्रसंग का वर्णन बड़े सटीक ढंग से किया गया हे। गर्भ में ईश्वर की प्रेरणा से अपने कर्मों के अनुसर जीव वीर्य के बिन्दुओं का आश्रय पा स्त्री के उदर में जाता है ।[2] एक राचि में यह वीर्य रज से मिलने से सफेद लाल झाग सा होता है । फिर पंचरात्रि में बुलबुला सा बनता है । दस दिन में वही बेर फल जैसा हो जाता है । तत्पश्चात् अण्डाकार रूप में धारण करता है ।[3] पहले मास में सिर, दूसरे मास में भुजा, आदि अंग बनते हैं तीसरे महीने में नाखून, रोम हड्डियों , चर्म लिंग आदि छिद्र बन जाते हैं।[4] चौथे महीने में त्वचा, मांस, रूधिर , मेदा, मज्जा, अस्थि आदि सात धातुओं की उत्पत्ति होती है । पाँचवें महीने भूख प्यास लगने लगती है । छठे महीने झिल्ली से लिपटा हुआ दाई कुक्षि में घूमने लगता है [5] और माता के भुक्त अन्न आदि से बढ़ता जीवों कीटों से परिपूर्ण दुर्गन्ध–युक्त माता के उदरगर्त में सोता है । माता के पेट में कीट आदि भूखे जन्तु उसके कोमल अंगों को काटते हैं ।

1– ह्यास्यानुगों देहो भूतेन्द्रियमनोमयः ।
तन्निारोधोऽस्य मरणमाविर्भावस्तु सम्भवः ।।(भा0पु0स्क0तृतीय अ0–31)

2– कर्मणा देवनेत्रेण जंतुर्देहोपपत्तये ।
स्त्रियां प्रविष्ट उदरे पुंसों रेतः कणाश्रयः । (ग0पु0प्रे0क0अ0–6)

3– कललं त्वेकरात्रेण पंचरोत्रण बुद्धदम् ।
दशाहेन तु कर्कंधूः पेश्यंडं वा ततः परम ।। (तदैव)

4– मासेन तु शिरो द्वाश्यां बाहृवंग्रविग्रहः ।
नखलोमास्थिचर्माणि लिंगच्छिद्रोंद्ववस्त्रिभिः ।(तदैव)

5– चतुर्भिधवितः सप्त पंचभि क्षुत्तृट्ट्द्ववः ।
षड्भिर्जरायुणा तीतः कुक्षौ भ्राम्यति दक्षिणे।। (तदैव)

जिससे घायल होकर बार–बार मुर्छित होता है ।[1] वह नीचे सिर ओर ऊपर पाँव किये पीठ वाला, सिर के दोनों जानुओं से मिला गोलाकार पिंजरे के पक्षी की भाँति दुःखित रहता है ।[2] सैकड़ों जन्मों के प्रभाव से कही ईश्वर के नाम की स्मृति उठती है। पुण्य उदय हुआ तो ईश्वर का स्मरण करता है और दुःख के मारे लम्बे श्वास लेता है। फिर जीव सप्त धातुओं से बंधा, पशु की भाँति भयभीत हो हाथ जोड़कर जिस ईश्वर ने उसे गर्भ में धारण किया था, उसकी स्तुति करने लगता है ।[3]

सातवें मास में जीव को ज्ञान होता है तथा दुःखों को देखकर भयभीत हो उठता है । गर्भ में एक स्थान पर टिक नहीं पाता विष्ठा से उत्पन्न कीट की भाँति उदर में इधर–उधर फिरता है ।[4] मल–मूत्र के कुएँ में पड़कर जठराग्नि से जलता है । इस प्रकार जन्म के समय अधोमुख प्रसूत पवन उसे बाहर निकाल देती है । जीव प्रसूति पवन से कष्ट पूर्वक बाहर आता हे । बाहर आते पूर्वोक्त ज्ञान लुप्त हो जाता है । बचपन में पराधीनता के कारण दुःखों को भोगता है ।

दुःख और भूख में बालक बोल नहीं सकता ओर माता–पिता उसके रूदन सुनकर औषधि , दूध आदि दे देते हैं । खटमल, जूँ आदि के तंग करने पर भी

1. कृमिभिः क्षतसर्वांगः सोकमार्यात्प्रतिक्षम् ।
मूर्च्छ्रमाप्नोत्युरुवकलेशस्त्रत्यैः क्षुधितैर्मुहुः ।। (ग0पु0प्रे0क0अ0–6)
2. आस्ते कृत्वा शिरः कुक्षौ भग्नपृष्ठशिरोधरः ।
अकल्पः स्वांगचेष्टयांशकुंत ख पंजरे ।।(ग0पु0प्रे0क0अ0–6)
3. नाथमान ऋषिर्भीतः सप्तवध्रिः कृतांजलिः ।
स्तुवीत तं विक्लवया वाचा येनोदरेऽर्पितः ।।(ग0पु0प्रे0क0अ0–6)
4. आरम्भ्य सप्तमान्मास्ताल्लब्धबोधोपि वेपितः ।
नैकत्रास्ते सूतिवातेर्विष्ठाभूखि सौदशः ।। (ग0पु0प्रे0क0अ0–6)

दुःखी होता है परन्तु न अंगों को खुजला सकता है न उठ सकता है ।[1] इस पाँच वर्ष की आयु में विद्या अध्ययन आदि गुरूजनों की मारपीट के दुःख भोगने पड़ते हैं ।

तब आसुरी सम्पदा प्राप्त कराने वाली यौवन अवस्था में आता है । युवावस्था में मतवाला होकर शास्त्रों और सत्पुरूषों के साथ द्वेष भाव रखकर कामी बन जाता है । मायारूपी स्त्री को देखकर आग में पतंगे की भाँति महामोह में पड़ जाता है तब धीरे –धीरे वृद्धावस्था को प्राप्त हो, रोगों में घिरता है । दुःखी होते–होते मृत्यु को प्राप्त हो, दुःखदायी नरक में जाता है ।[2]

मार्कण्डेय पुराण में भी इसी प्रकार का कथन आया है कि स्त्री–पुरूष के रज वीर्य मिश्रण काल में स्वर्ग या नरक से छूटते ही उसका अवलम्बन करता है।[3] उससे अभिभूत होकर दोनों बीज स्थिर होकर बुलबुले के लम्बे या गोल आकार को प्राप्त होते हैं । उस अण्डाकार में स्थित बीज को अंकुर कहते हैं । उस अंकुॅर के विभाग से पाँचों अंग उत्पन्न होते हैं ।[4] फिर सभी उपांग उत्पन्न

---

1. तुदंत्यामल्वचे दंशा मशका मत्कुणादयः ।
रूदंतं विगतज्ञानं कृमयः कृमिकंयथा ।। (ग0पु0प्रे0क0अ0–6)
2. ततस्तांवृद्धतां प्राप्य महाव्याधिसमाकुलः ।
मुत्यु प्राप्य महद्दुःखं नरकं याति पूर्ववत् ।।
एवं गतागतै कर्मयाशेर्वद्वाश्च् पापिनः ।
कदापि न विरजयंते मम मायाविमोहिता ।। (तदैव)
3. निषेकंमानवस्त्रीणांबीजंप्रोकतंस्न स्यथ ।
विमुक्तमात्रोनरकात्स्वर्गादापिप्रपद्यते ।।
– मार्क0पु0अ0–11
4. पेश्यास्तथायतथाबीजादकुँरादिसमुद्रवः ।
अंगनां च तथोपत्ति पंचर्नामानुभागशः ।।
– मार्क0पु0अ0–11

होकर उससे मुखादि उत्पन्न होते हैं । फिर त्वचा पर रोमावली और केशों की उत्पत्ति होती है और फिर अंग ओर उद्भवकोशों की समान रूप से वृद्धि होती है। अर्थात जैसे नारियल फल कोश सहित वृद्धि को प्राप्त होता है, वैसे ही गर्भकोष सहित नीचे की ओर मुख किये बढ़ता है ।[1]

जब नीचे मुख किये प्राणी गर्भ कोष में रहता है, तब जानु और पार्श्व सहित दोनों हाथ नीचे के भाग में रहते हैं । दोनों अंगूठे जानु पर तथा सब अंगुलियॉ जाने के अगले भाग में फेली रहती है । उदर के अगले भाग में फैली रहती है ।

उदर की अग्नि में कठिन होता जाता है और खाये पिये पदार्थ से जीवन धारण करता है । पाप–पुण्य की अधिकता के भेद से गर्भ वास भी विभिन्न प्रकार है ।[2] नाभि में निबद्ध आपयनी नामक नाड़ी स्त्री की आँत में लगी रहती है । उसी के छिद्र से सब खाये पिये हुए पदार्थों उनके देह में जाकर देह को तृप्त करते हुए बढ़ाते हैं । उस समय उसे संसार में अपने अनेक जन्म स्मरण होते हैं और दुःखी होता है ।[3]

1. नारिकेलंफलंद्वत्सकोशोऽधोमुखः स्थितः ।
तद्वत्यात्यसौवृद्धिसंकोशोऽधोमुख स्थितः ।।
– मार्क0पु0अ0–11

2. काठिन्यमग्निनायातिभुक्तपीतेनजिवति ।
पुण्यापुव्याक्षयमयींस्थितिजन्तोस्तथोदरे
(मार्क0पु0अ0–11)

3. कामन्तिभुक्तपीतानिस्त्रीणांगर्भोदयथां ।
तैराप्यायितदेहोऽसौजन्तुर्वुद्विभुपैतिठै ।
समृतिपंत्रप्रभान्त्यस्यवह्वयः संसारभूमयः ।
ततोनिर्वेदमायतिपीऽयमानइतस्ततः ।।
(मार्क0पु0अ0–11)

दैव प्रदत्त शत–शत जन्मों के दुःखों को स्मरण कर वह सोचता है कि उदर से निकल कर फिर कभी ऐसे कार्य नहीं करूँगा, जिससे फिर कभी गर्भ में पड़ने का दुःख भोगना पड़ें ।[1] फिर उस अधोगुखी जीव का जन्म नौवे महीने होता है । उस समय प्रजापत्य वायु से अत्यन्त पीड़ित हुआ बाहर निकलता है।[2] उदर से निकलते ही मूर्छा आ घेरती है और फिर वायु के स्पर्श से चेतना आती है । फिर मोहिनी माया उसे मोहित कर दी है, जिससे उसका ज्ञान नष्ट हो जाता हे। ज्ञान नष्ट हो जाता है। ज्ञान के नष्ट होने पर बाल्य, कुमार और वृद्धावस्था प्राप्त होती है । फिर मरकर उसी रूप में जन्म लेता, इसी प्रकार संसार चक्र में घटीयन्त्र की भॉति निरन्तर घूमता रहता है।[3]

कभी स्वर्ग, कभी नरक तथा कभी दोनों स्थानों में रहता है। कभी पुनः इसी स्थान में जन्म धारणकर कर्म फल भोगता है और कभी सब कर्मों को भोग कर अल्पकाल में ही प्राण छोड़ देता है।[4] कभी साधारण से शुभ या अशुभ कर्म के

---

1. इतिचिन्तायतेस्मृत्वाजन्मदुःखशतानिवे ।
यानिपूर्वानुभूतानिदैव भूतानियानिवै ।।
(मार्क0पु0अ0–11)

2. निष्काम्यत्माणों वातेन प्रजापत्येनपीड़यति ।
निष्काम्यते चविलपन्ह्यदिदुःख निपीडतः
(मार्क0पु0अ0–11)

3. पुनःश्चमरणतगंज्जन्मचाप्नोतिमानवः।
ततः ससांरचकेस्मिन्थाम्यतेघटियन्त्रवत्।
(मार्क0पु0अ0 11)

4. कदाचित्स्वर्गमाप्नोतिकदाचिन्नरयंनरः।
निरयंचैवस्वर्गचकदाचिच्चमृतोश्नुते।।
(मार्क0पु0अ0 11)

स्वरूप मनुष्य को स्वर्ग या नरक में गिराता है। स्वर्ग में निवास करने वालों के आमोद–प्रमोद को देखकर पापियों को बडा दुःख होता है, परन्तु स्वर्ग में असीमित दुःख है। वहॉ के निवासियों को काल का भय लगा रहता है कि पुण्य के क्षीण होने पर पुनः उसी में गिरना पडेगा। उन नरक वासियों की गति देखकर उन्हें अत्यन्त दुःख होता है कि कभी हम भी ऐसी गति पायेंगे। प्रथम तो गर्भवास ही अत्यन्त दुःख पूर्ण है, फिर योनि छिद्र द्वारा निकलना तो नित्तान्त कष्टमय है[1] और जन्म होने पर बाल्यावस्था और वृद्धावस्था यह दोनों ही कष्टपूर्ण है। काम, क्रोध, ईर्ष्या आदि से परिपूर्ण युवावस्था तो अत्यन्त दुःखदायी है। उस पर भी वृद्धावस्था को दुःख की जड समझना चाहिए उससे भी बढकर मरण तो अत्यन्त घोर दुःख है। असंख्य दुःखों वाले इस संसार में लेशमात्र भी सुख नहीं है। इसलिए मोक्ष के लिए प्रयत्न करना चाहिए।[2]

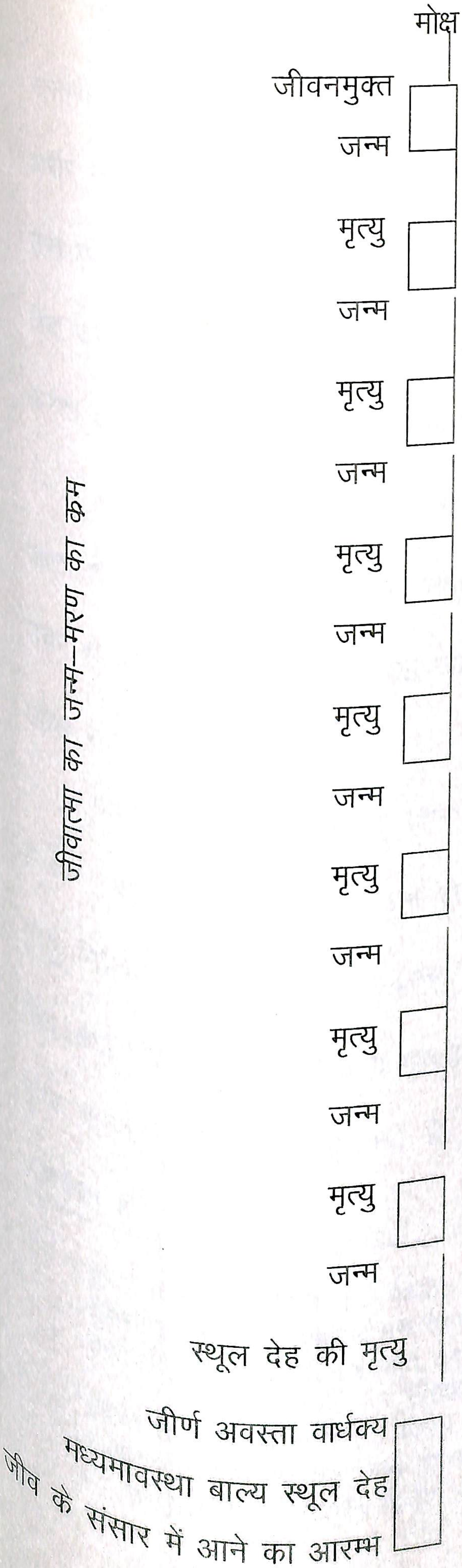
मनुष्य का सम्पूर्ण जीवन एक दिन है, इस दिन में वह कुछ व्यापार व्यवहार करता है । तत्पश्चात् मृत्यु रूपी रात्रि आती है, उसमें वह कालवश होकर सोता है, इसके पश्चात् दूसरा दिन आता है, यह उसका दूसरा जन्म है। मनुष्य का जीवन एक देह के जन्म से प्रारम्भ होकर उसके विनाश तक ही नहीं समझना चाहिए। संसार में आने के समय उस जीवन का प्रारम्भ होता है।

1. प्रभृत्यहंपतिस्यामीत्येतन्मनसिवर्तते।
गर्भवासेमहाद्दुखजायमानयोनितः।। (मार्क0पु0अ0 11)

२. जातस्यबालभावयवृद्धत्वेदुःखमेवचः।
नास्तिततासुखकिंचिदत्रदुःखतकुले
तस्मान्मोक्षाययतताकथंसेव्यामायात्रयी।।(मार्क0पु0अ0)

स्थूल शरीर, सूक्ष्म शरीर और कारण शरीर ऐसे इसके तीन शरीर होते है। स्थूल शरीर का जन्म होता है और नाश भी होता है । परन्तु जन्म और मृत्यु केवल स्थूल शरीर का ही है, उसके सूक्ष्म शरीर का कोई सम्बन्ध नहीं होता ।

जीवात्मा का जन्म–मरण का क्रम



ऐतरोयोपनिषद् में जीव के विषय में इस प्रकार का वर्णन मिलता है कि यह संसारी जीव पहले–पहल पुरूष शरीर में वीर्यरूप से प्रकट होता है। यह वीर्य शरीर के सम्पूर्ण अंगो से निकल कर उत्पन्न हुआ तेज हैं पिता अपने आधार भूत उस वीर्यरूप तेज को पहले तो अपने शरीर में ही धारण–पोषण करता है। फिर जब उसे जब वह स्त्री के शरीर में स्थापित करता है। तब गर्भ रूप से उत्पन्न करता है। माता के शरीर में प्रवेश करना ही इसका पहला जन्म है ।[1]

स्त्री के गर्भ में आया हुआ वह वीर्य उस स्त्री के आत्मभाव को प्राप्त हो जाता है। उस गर्भ को प्रसवकाल तक वह अपने शरीर में धारण करती। स्त्री के उदर से बालक का जन्म होना यह जीव का दूसरा जन्म है।[2]

जीव के कर्म :–

मानव के अन्तराल में यह प्रश्न कहीं न कहीं यह प्रश्न अवश्य छिपा रहता है कि "वह कौन है" उसके जन्म लेने की अवश्यकता क्या है। जन्म के साथ मृत्यु निश्चित् रूप से जुडी है। जन्म का दूसरा रूप ही मृत्यु है। प्राणी मरने के लिए क्यां जीता है? क्या उसका दूसरा भी कोई अस्तित्व है? इस संसार मे इतना दुःख शोक, रोग और कष्ट क्यों है? जीव कर्मो के बन्धन में क्यों अपने को जकड़ता है?

1. पुरूष ह वा अयमादितो गर्भो भवति। यदेतद्रेतः तदेतत्
सर्वेभ्योऽगें.भ्यस्तेजः सम्भूतमात्मन्येवात्मानं विभर्ति।
तद्यदास्त्रियां सिण्चत्यथैजंजनयति तदस्य प्रथमं जन्म।।
(ऐत0उप0अ0 दितीय स्वंण)

२. तित्स्त्रया आत्मभूतं गच्छति। सोऽग्र एवं कुमार जन्मनोऽग्रेऽधिभावयति। स यत्कुमारं
जन्मनोऽग्रेऽविधभावयत्यात्मानमेव तद्वायत्येषा लोकानां सतंत्या।
एवं सतंता हीमे लोकस्तदस्य द्वितीयं जन्म।। (ऐत0उप0अ0 दितीय स्वंण)

इस संसार में घृणा, द्वेष, ईर्ष्या, जलन, शोषण, उत्पीड़न, हिंसा और नाश करने वाला, भक्ष्य–अभक्ष्य खा पीकर भी स्वस्थ और बलवान् बने रहने वाला, धोखा, छल, कपट, मक्कारी, धूर्तता और कुत्सित विचारों से कार्य कर धनवान्, शक्तिमान्, ऐश्वर्यवान् और प्रसिद्धि प्राप्त करने वाला तथा घोर पापिष्ट जीवन बिताकर चले जाने वाला व्यक्ति क्या अपने दुष्कर्मो का फल नहीं पाता? यदि जन्म और मरण एक बार ही होता है, तो उसके अपने क़िये का फल या परिणाम भोगने की आवश्यकता नहीं होती? क्या यह सब करके भी शरीर के चले जाने के बाद इन सब क़िये धरे से मुक्त हो जाता है।

दूसरी ओर जो व्यक्ति सादगी, सरलता, निष्कपटता, निश्चल और प्रेम, दया, ममता, स्नेह, क्षमा, उदारता, सहनशीलता, सहयोग, सहायता, सेवा और सत्य का व्यवहार करता है, जीवन दूसरो के कल्याण में लगा देता है, प्रत्येक जीव को अपने समान मानता है, उसके साथ आत्मवत् व्यवहार क़रता है, सदा पवित्रता का जीवन व्यतीत करता है, शुद्ध मन और बुद्धि वाला होता है और सदा समाज, देश और विश्व का हित चिन्तन करता हुआ अपना शरीर त्याग कर चला जाता है, तो क्या उसके इन शुभ कार्यो का भी अन्त शरीर के साथ ही हो जाता है? उसके अपने त्यागमय निष्काम जीवन का कोई लाभे प्राप्त हो सकने की कोई सम्भावना नहीं है? यदि है तो क्या?

जब प्रकृति में प्रत्येक किया की समान प्रतिरोधी प्रति किया अवश्य होती है, तो क्या मानव के कर्म, व्यवहार और आचरण पर क्या यही नियम लागू होता है? क्या अच्छाई और बुराई में कोई अन्तर नहीं है? अच्छा बनने मे अच्छाई और बुरा

बनने में बुराई क्या है? क्या पाप–पुण्य, पवित्रता–अपवित्रता प्रेम और घृणा में अन्तर नहीं है।

ये सब नैसर्गिक, स्वाभाविक, प्राकृतिक और अन्तः प्रेरित जिज्ञासायें है। हम चाहे या न चाहें, ये विचार और ये मूल वृत्तियॉ अवश्य हृदय में उठेंगी, उठती ही रहेगी। इन प्रश्नो की खोज में एक नहीं अनेक अनुसन्धानकर्ता जिन्हें ऋषि नाम दिया गया, जुट गये। शान्त चित्त से चिन्तन, मनन करते रहे। विचार रत्नों का संग्रह करते रहें। एक के बाद दूसरा उसके बाद तीसरा और इसी प्रकार खोज का सिलसिला निरन्तर चलता रहा। प्रत्येक ऋषि अपने खोज के परिणाम को अपने शिष्यों को सौंपता गया। वे उन्हें और आगे बढाते गये।

प्राणि मात्र उसी अनन्त चैतन्यमी परम सत्ता का अंश है, बूॅद है, इकाई में एक है। समष्टि में सागर है–परमात्मा है। सब पूर्ण समान है, एक है, समतुल्य है, कोई श्रेष्ठ नहीं, कोई कम नहीं । नीचा होने का तो प्रश्न ही नहीं उठता।

अन्तर केवल इतना है कि प्रत्येक प्राणी में मन, बुद्धि और अहंकार है। जिसका यह अन्तःकरण अर्थात् मन + बुद्धि + अहं जितना विकसित, जितना निश्चल और जितना निर्मल है, उतना ही श्रेष्ठ, श्रेष्ठतर और श्रेष्ठतम है। जिसका अन्तःकरण जितना अविकसित, अस्थिर कलुषित और चंचल वासनाओं से भ्रमित है, वह उतना ही विकास के कम में निम्न निम्नतर और निम्नतम की सीढी पर खड़ा है। यहाँ कोई नीच या बुरा नहीं है, बस विकास का कमान्तर है। वह चाहे तो ऊँचा उठ सकता है, चाहे तो नीचे भी गिर सकता है। यह उसके अपने हाथ में है।

गरूड़ पुराण के अनुसार जीव किन कर्मों के कारण दुख भोगते हैं और परलोक में किस प्रकार के दुखों को प्राप्त होते हैं ।[1] जो मनुष्य दया, धर्म, वर्णाश्रम धर्म से रहित होकर सदा पाप कर्मो में संलग्न रहते हैं । श्रेष्ठ शास्त्र वेद पुराण की आज्ञाओं पालन नहीं करते हैं ।[2]अपने आपको पूजनीय समझकर अकड़ते हैं, धन, मान के मद में चूर होकर अभिमान करते हैं । काम, क्रोध लोभ आदि के कारण दैवी सम्पदा से दूर रहते है ।[3] पराये धन और पराई स्त्री का हरण करने के लिए उद्यत रहते हैं । स्त्री, पुत्र आदि के मोह में पड़े रहते हैं और उन्हें विषय वासनाओं की पूर्ति में ही सारा समय नष्ट करते हैं । वे पापात्मा अपवित्र नरक मे पड़ते हैं ।[4]

जो मनुष्य ज्ञानवान होकर सदा दुष्कर्मो से बचा रहता है, वह परम गति प्राप्त करता है ।[5] पाप कर्मो में प्रवृत मनुष्य इस लोक में अनेक कष्ट पाते है । वे

1– तथा संसार दुःख नितत्क लेशक्षय साधनम्
एहिकामुष्मिकान् क्लेशान् यथावद्वक्तु मर्हसि ।
–ग0 पु0 प्र0क0अ01

2– ये हि पापरतास्तार्क्ष्य दयाधर्मविवर्जिताः ।
दुष्तासंगाश्च सच्छास्त्रसत्संगतिपरड़मुखाः ।।
–ग0 पु0 प्र0क0अ01

3– आत्म संभाविता स्तब्धा धनमानमदान्विताः ।
आसुरं भावमापन्नादेवीसंपद्विवर्जिता : ।।
–ग0 पु0 प्र0क0अ01

4– अनेकचित्त विभ्रांता माहेजालसामवृताः ।
प्रसक्ताः कामभोगेषु पंततिनेरकेडशचौ ।।
–ग0 पु0 प्र0क0अ01

5– ये नरा ज्ञानशीलाश्च ते यांति परमां गतिम् ।।
–ग0 पु0 प्र0क0अ01

जो अच्छे बुरे काम पूर्व जन्म में किये थे, उन्हीं के अनुसार उसे अगला जन्म मिलता है ।

वस्तुतः कोई प्राणी एक क्षणभर भी कर्म किये बिना नहीं रह सकता । प्रकृति में उत्पन्न हुए गुणों के वश में होकर प्रत्येक प्राणी कर्म करता है ।[1] मनुष्य के शरीर का व्यवहार भी कर्म किये बिना नहीं चल सकता ।[2] इतना प्राणी का सम्बन्ध कर्म के साथ है । एक क्षण भी जीवन धारण करना कर्म के बिना सम्भव नहीं है । मानों जीवन का आधार ही कर्म है । आहार, निंद्रा, भय और मैथुन में सब प्राणिमात्र के स्वभाविक कर्म हैं । केवल स्वाभाविक अवस्था में रहने वालों के लिए भी ये कर्म करना अत्यन्त आवश्यक हैं ।

मनुष्य तो सबसे श्रेष्ठ प्राणी है, उसका कर्तव्य क्षेत्र बड़ा ही विस्तृत है । अतः मनुष्य को अपने स्वभाव और अधिकार की दृष्टि से भी कर्म करना अत्यन्त आवश्यक है। इसी कारण वेद का आदेश यह है ।

"यहाँ मनुष्य प्रशस्त कर्म करता हुआ ही सौ वर्ष जीने की इच्छा करे । यही एक मार्ग है, दूसरा नहीं, कर्म का कलंक मनुष्य को लगता नहीं ।" वेद की यह आज्ञा प्रत्येक मनुष्य को सौ वर्ष तक कर्म करने की आज्ञा दे रही है ।[3]

1– न हि कश्चित्क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत् ।
कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः ।।

– (भ0 मी अ03)

2– शरीरयात्राऽपि च ते न प्रसिद्ध्येदकर्मण : ।।

– (भ0 मी अ03)

3– कुर्वनेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः ।
एवं त्वपि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे ।

(वा0 य0 40/2)

मनुष्य के शरीर में अनेक इन्द्रियाँ हैं । प्रत्येक इन्द्रिय में इन्द्र अपनी शक्ति रखता है, मानों इन्द्र अपनी शक्ति इन्द्रिय द्वारा प्रकट करता है । इस इन्द्र का नाम 'शतक्रतु' वेद मे और लौकिक संस्कृत में है शतक्रतु का अर्थ ''सैकड़ों कर्म करने वाला है'', अर्थात मनुष्य का जीवात्मा जो इसके शरीर के मध्य केन्द्र में बैठकर कार्य करता है, वह स्वभावतः सैकड़ों कर्म करने वाला है । इसलिए कहा गया है–प्रथम स्थान में रहने वाला आत्मा यहाँ कर्म करने के लिए ही प्रकट हुआ है ।[1] मनुष्य कर्म करता है,[2] क्योंकि कर्म करना उनका स्वभाव है । कर्म किये बिना वह जीवित नहीं रह सकता ।

कर्म करके देवत्व प्राप्त करते हैं ।[3] कर्मो में अमृत है ।[4] पुण्य कर्म की सुगन्ध दूर तक जाती है और वह दूरस्थों को भी आनन्द देती है ।[5] इसलिये मनुष्य को स्वभाव से सत्कर्मशील बनना चाहिए । कर्मफल के हेतु (फल) से कर्म नहीं करना चाहिए ।, कर्म करना उसका कर्तव्य है । उसके करने से उन्नति होती है और न करने से अवनति होती है ।

1– य प्रथमः कर्मकृत्याय जातः ।
(अथर्व 4/24/6)

2– कर्म कृष्वन्ति माकनुषाः ।
(अथर्व0 6/23/3)

3– कर्मणा देवानपि यान्ति ।।
(तै0उप0 2/8/1)

4– कर्मसु अमृतम् ।
(मुं0 उप0 1/1/8)

5– पुण्यस्य कर्मणो दूराद्गान्धो वाति ।
(मा0 उप0 8/2)

गीता में कहा गया है कि जो मनुष्य आसक्ति छोड़कर ईश्वरार्पण बुद्धि से कर्मों को करता है, वह पानी में कमलपत्र की भाँति, पाप से लिप्त नहीं होता । योगी लोग आसक्ति छोड़कर शरीर से, मन से, बुद्धि से अथवा इन्द्रियों से भी आत्मशुद्धि के लिए कर्म करते है ।[1]

इस प्रकार प्रारम्भ से अन्त तक श्रीमद्भगवद्गीता में संगत्याग अथवा आसक्ति का त्याग और फलेच्छा का त्याग करके कर्म करने का उपदेश है और यही कर्मयोग है। इस प्रकार किये हुए कर्म कर्ता के लिए बाधक नहीं होते, प्रत्युत् कर्ता की उन्नति करते हैं अर्थात् सकाम कर्म की अपेक्षा निष्काम कर्म अत्यन्त श्रेष्ठ है ।

मानव सुखी होना चाहता है । सुख के लिए सारे प्रयास करता है । दुःख की जड़ को छोड़ देना और सुख की जड़ पकड़ लेना चाहता है । दुःख की जड़ यह शरीर है । इस शरीर की जड़ जन्म है और जन्म को जड़ क्या है? जन्म की जड़ कर्म है । इस शरीर से घृणित से घृणित काम करता है । एक दिन काल सिर पर आ जाता है और नरक की प्राप्ति होती है तथा फिर पश्चाताप के अतिरिक्त कुछ हाथ नहीं आता है ।[2] अतः इन कर्मो को ब्रह्मज्ञान की आग से जला ड़ालना चाहिए ।[3]

1– कर्मजं बुद्धियुक्ता हि फलं त्यक्त्वा मनीषिणः ।
जन्मबन्धविनिर्मुक्ताः पदं गच्छन्त्यनामयम् ।।
(भ0 गी0 अ03)

2– सो परत्र दुःख पावई, सिर धुनि धुनि पछिताय ।
कालहिं, कर्महि ईश्वरहिं मिथ्या दोष लगाया ।।
(रा0 च0 मा0–

3– ज्ञानाग्निदग्धकर्माणं तमाहुः पण्डितं बुधाः ।
(भ0 गी0 उ04)

यदि ज्ञान की आग न मिली तो फल देंगे ही । यह बड़ा लम्बा चौड़ा कर्म विज्ञान है । अखिल ब्रमाण्ड़ कर्मो के वशीभूत होकर नाच रहा है ।

कर्माध्यक्ष, कर्मों का मालिक कर्मानुसार इस जीवात्मा के लिए पहले ही दूसरा शरीर निश्चित् कर देता है । इस जीवात्मा को निकालकर वासना और कर्मो के अनुसार बड़ी लम्बी यात्रा करवायी जाती है । वह जीवात्मा पहले आकाश को प्राप्त होती है और आकाश से वायु को । वायु होकर फिर धूम होते हैं और धूम होकर अभ्र होते हैं । वह अभ्र होकर मेघ होता है, मेघ होकर बरसता है, पुण्यशाली जीव आकाश, वायु इत्यादि पदार्थ–रूप नहीं बनते, परन्तु वे तो उन पदार्थों के सदृश्य ही बनते हैं, वे आकाश के सदृश्य सूक्ष्म रूप धारण करते हैं और इससे वे वायु की सत्ता अथवा प्रभाव में आ जाते हैं और वहॉ से आगे चलकर वे धूम के सम्पर्क में आकर उससे मिल जाते हैं और इस प्रकार जीवात्मा इनसे होकर शीघ्र ही निकल जाता है ।

मेघ होकर वह बरसता है । तब वह जीव धान, जौं, औषधि, वनस्पति, तिल और उड़द आदि होकर उत्पन्न होता है । इस प्रकार यह निष्क्रमण निश्चय ही कष्टप्रद है । उस अन्न को जो भक्षण करता है, जो वीर्य सेचन करता है । तद्रूप ही वह जीव हो जाता है ।

आकाश, वायु, धूम, अभ्र तथा मेघ आदि रूपों मे जब जीवात्मा को यात्रा करनी होती है, तब उसे इसमें अल्प समय ही लगता हैं, परन्तु बाद में उसे जब जो, वीर्य, गर्भजात शिशु के रूप में निष्क्रमण करना होता, तब उसे पूर्वापेक्षा बहुत अधिक समय लगता है और साथ ही कष्ट भी बहुत अधिक होता है ।

नारदीय पुराण में लिखा है, जो पुण्यशाली जीव ऊपर से नीचे आना आरम्भ करता है, उसे माता के उदर में प्रवेश करने मे एक वर्ष लग जाता है, क्योंकि इसके पूर्व उसे अनेक स्थानों में भटकना पड़ता है ।

धान्य तथा औषधियों में उनका अपना जीवात्मा रहता है । ये पुण्यशाली जीव उन जीवात्माओं के सम्पर्क में आते हैं, परन्तु वे उनके सुख–दुःख के भागी नहीं बनते । वे पुण्यशाली जीवात्माएँ तो धान्य के पौधों के केवल सम्पर्क में ही आते हैं । धान्य तथा औषधियों को तो ये जीवात्मा अपने विरोधस्थल के रूप में ही उपयोग करते हैं । वे उनके साथ तद्रूप नहीं बनते । वे अपनी विशेषता खो नहीं देते ।

छान्दोग्य उपनिषद् की यह घोषणा है "उस अन्न को जो–जो भक्षण करता है और जो–जो वीर्य सेचन करता है, उसके साथ जीव सम्पर्क में आता है "। ऊपर से उतरने वाला जीवात्मा उसका आहार बन कर उसका वीर्य बनता है । जीवात्मा पुरूष के अन्दर तब तक ही रहता है, जब तक कि पुरूष का वीर्य स्त्री के उदर में सेचन नहीं किया जाता है । जिस धान्य में जीवात्मा आया होता है, वही धान्य जब पुरूष के भोजन में आता है, तब उस धान्य से जो वीर्य–रूप रस बनता है, उसके साथ वह जीवात्मा सम्बन्ध में आता है और उसके परिणाम स्वरूप वह अन्त में माता के उदर में शरीर धारण करता है ।

माता के उदर में वह जीवात्मा एक सम्पूर्ण विकसित शरीर को धारण करता है, जो उसके पूर्व संचित कर्मों के भोगने के लिए उपयोगी हो । जिस परिवार में जीवात्मा को जन्म लेना होता है, उस परिवार के लोग भी उसके कर्मों

से स्वभावतः ही सम्बन्धित होते हैं । इस विषय में छान्दोग्य उपनिषद् कहती है–'उन जीवों में जो अच्छे आचरण वाले होते हैं, वे शीध्र ही उत्तम योानि को प्राप्त करते हैं । वे ब्राह्मण योनि, क्षत्रिय योनि अथवा वैश्य योनि प्राप्त करते हैं । परन्तु जो अशुभ आचारण वाले होते हैं , वे कुत्ते की योनि, सूअर की योनि अथवा चाण्ड़ाल की योनि प्राप्त करते हैं ।

जीव की योानियाँ एवं मनुष्य योनि की श्रेष्ठता

गरूड़ पुराण मतानुसार इस जगत् में चौरासी लाख योनियाँ कही गयी है। उनका विभाजन चार प्रकार के जीवों में किया गया है, जिन्हें अण्डज, स्वेदज, उद्भिज्ज और जरायुज कहा जाता है ।[1] इक्कीस लाख योनियाँ अण्ड़ज मानी जाती है । इसी प्रकार क्रमशः स्वेदज, उद्भिज्ज और जरायुज योनियों के विषय में कहा गया है । मनुष्यादि योनियाँ जरायुज के अर्न्तगत आती है । इस संसार में केवल अपने–अपने प्राकृतिक ढ़ाँचे की बनावट के कारण ये चार जातियों के सहस्त्रों प्राणी रहते हैं । इनकी अपनी–अपनी प्रजातियाँ हैं , जिनमें भी केवल बनावट, रूप –रंग या आकार का ही अन्तर होता है । समस्त प्राणी प्रकृति के पदार्थों से शरीर प्राप्त करते हैं जो सूक्ष्म से सूक्ष्म अथवा विशाल से विशाल होते हैं । चौरासी लाख प्रकार के होते हैं । एक–एक योनि में अनगिनत संख्या में ढ़ाँचे बनते रहते और मिटते रहते हैं । यही जन्म–मरण कहलाता है । किस योनि में कितनी संख्या में प्राणी है, इसकी गणना करना महान् कठिन काम है । मनुष्यों

1. समुत्पत्तिर्विनाशश्च जायते सर्वदेहिनाम् ।
एवं प्रवर्तितं चक्रं भूतग्रामे चतुर्विधे ।। (ग0 पु0 प्रे0 क0 3105)

की संख्या का वर्णन करना एक सीमा तक सम्भव है, जो वर्तमान में दस अरब के लगभग है । अन्य योनियों की गणना करना प्रायः असम्भव है ।

समस्त प्राणी अपनी निश्चित आयु या जीने की अवधि पर्यन्त जीवित रहते हैं, जितने समय तक शरीर में रहकर कार्य करते रहते हैं । आयु समाप्त हो जाने पर शरीर नहीं रहता है । जीव शरीर में रहकर जो–जो कार्य करता है वह कर्म के अनुसार अंकित हो जाते हैं । जो उसके सूक्ष्म अंगो में मिलकर पुनः अच्छी बुरी योनियों में डालती हैं । यही जन्म मरण का चक्र भी कहा गया है ।

ये समस्त जीव ज्ञानेन्द्रियों एवं मन, बुद्धि तथा अहं के अति सूक्ष्म तत्वों से संयुक्त होते हैं । इनका विकास समस्त जीवों में एक सा विकास नहीं होता । अनुभूति की क्षमता भी एक जैसी नहीं होता । मानव सर्वाधिक विकसित प्राणी है, जिसमें पॉचों ज्ञानेन्द्रियों के साथ मन भी है । इसलिए प्राणियों में मानव योनि परम दुर्लभ है । मानव योनि बड़ी कठिनता से प्राप्त होती है, क्योंकि इसमें पॉचों ज्ञानेन्द्रियों के साथ मन, बुद्धि और अहं बोध भी बहुत विकसित होने के साथ इसमें विकास करने की अद्भुत क्षमता है । मानव से नीचे की योनियों में अनेकानेक प्राणी हैं । कुछ तो केवल एक ही ज्ञानेन्द्रिय 'त्वचा' स्पर्श हेतु रखते हैं। उनके लिए सृष्टि केवल कोमल–कठोर, शीत–उष्ण मात्र है, ऐसे प्राणियों के लिए सृष्टि में न ध्वनि है, न रूप रंग, आकार है, न स्वाद है और न गन्ध । उनका मन, बुद्धि और अहं बोध भी न्यूनतम स्तर का है। इन दोनों दो छोरों के बीच में अनेकानेक योनियों के जीव हैं । किसी के पास दो ज्ञानेन्द्रियॉ –त्वचा और नासिका मात्र है । उनके लिए संसार केवल स्पर्श एवं गन्धमय है । किन्हीं

के पास त्वचा, नासिका साथ रसना भी है, जिनके लिए संसार स्पर्श, गन्ध और स्वादमय भी है । जिनके पास कान है, उनके लिए इन तीन के अतिरिक्त ध्वनिमय भी संसार है । इनके आगे अनेकानेक पशुओं, जिनमें मानव श्रेष्ठ है, नेत्र समेत पांचों ज्ञानेन्द्रियाँ हैं । उनके लिए संसार रूप, आकार रंग वाला भी है, विभिन्न ध्वनियों वाला भी है, विभिन्न गन्ध वाला भी है, विभिन्न रस, स्वाद वाला भी है और विभिन्न स्पर्श, शीत, उष्ण, नम, शुष्क, कठोर, कोमल स्पर्श वाला भी है।

मानव योनि का सबसे बड़ा लाभ उसकी "कर्म करने की इच्छा है" वह अपने नीचतम से नीचतम, कुत्सित से कुत्सित, घृणित से घृणित और नाश तथा सर्वनाशमय कर्मों की इच्छा, भावना और क्रिया करके रौरव नरक या घोर नरक के रूप में संसार को बदल सकता है । वह चाहे तो इस संसार में घृणा, द्वेष, ईर्ष्या, छल, कपट, दम्भ, ढोंग, घमण्ड, चोरी, ड़कैती, दुष्कर्मों, हत्या, अपहरण, बलात्कार, आदि–आदि दुर्गुणों से भयंकर कालरात्रि बना दे । साथ ही यदि वह चाहे तो इसे सत्य, न्याय, प्रेम, उदारता, सरलता, त्याग, पवित्रता, समानता, निर्मलता, ज्ञान और विद्वता का आनन्दमय समाज बना दे । उसमे साहित्य, कला और धर्म के सुन्दर सुगन्धमय पुष्प खिलाकर आलोकमय, सुगन्धमय और ज्ञानमय ऐसा लोक बना, जो स्वर्ग से महान हो । जब मनुष्य अपने विकास की सर्वोत्कृष्ट शिखर पर पहुॅचता है, तो वह जीता जागता ईश्वर कहलाता है ।

गरूड़ पुराण मनुष्य योनि की श्रेष्ठता बताते हुए कहा गया है कि अत्यन्त दुर्लभ मनुष्य जन्म पाकर भी उसे बिषयासकति में ही नाश कर देता है । इससे

बढ़कर कौन सा पाप है सैकड़ों योनियों में मनष्य योनि अतीव दुर्लभ है[1] और इसमें ब्राह्मण होना कठिन है । उसका कुछ भी विचार नहीं करता । भक्ति हीन हो हाथ में आये हुए अमृत को गिरा देता है ।

रामचरितमानस में भी मनुष्य योनि को सर्वोत्कृष्ट दर्शाते हुए कहा है कि इस शरीर को पाकर मनुष्य देवता नहीं बल्कि अपने विकास की सर्वोत्कृष्ट शिखर पर पहुॅच कर ईश्वर ही बन सकता है, देवता भी इस योनि में आने के लिए याचना करते हैं,[2] क्योंकि इसमें कर्म करने की स्वतन्त्रता होती है । इसलिये चराचर जीव इस योनि को पाने के लिए ईश्वर से प्रार्थना करते रहते हैं । बड़ी कठिनता से यह मनुष्य शरीर प्राप्त होता है । अतः मानव महान से महान है, किन्तु यदि यह अपनी महानता का विकास नहीं करता तो नराधम और नरपिशाच की निम्नतम अवस्था में पड़कर जीता है । यह मानव की इच्छा पर है कि वह कौन सा मार्ग ग्रहण करे । यह स्वतन्त्रता उसकी विशेषता है जो अन्य योनियों के प्राणियों को उपलब्ध नहीं है । वह अवतारी पुरुष भी बनकर ईश्वरत्व प्राप्त कर सकता है ।

1– एवं यो बिषयासक्त्या नरत्वमतिदुर्लभम ।
वृथा नाशयते मूढ़स्तस्मात्पापतरोहिकः ।।
यस्तन्न पालयति लालयतीन्द्रियणि तत्सयामृत क्षरित हस्तगतं प्रमादात ।
(ग0 पु0 प्रे0 क0 अ06

२– बड़े भाग मानुष तन पावा ।
सुर दुर्लभ सदग्रन्थन्ह गावा ।।
रा0 च0 मा0

चतुर्थ अध्याय

जीव और मृत्यु

1. मृत्यु का स्वरूप
2. चैतन्यात्मा
3. मृत्यु के समय की गति के आधार पर योनि की प्राप्ति
4. मृत्यु के समय होने वाला कष्ट
5. मृत्यु के पश्चात जीवात्मा की यात्रा
6. यमलोक का मार्ग
7. विभिन्न नरकों का वर्णन
8. देवयान मार्ग और पितृयान मार्ग
9. जीव और पुर्नजन्म

जीव और मृत्यु :–

जन्म, मृत्यु और पुनर्जन्म जहाँ भारतीय धर्म एवं संस्कृति की मूल भिति है, वहीं अपने आप में अत्यन्त गूढ, गोपनीय और रहस्यमय है । जीवन क्या है? मृत्यु कैसे होती है? मृत्यु के समय प्राणी की क्या दशा होती है ? मरने के बाद वह किस गति को प्राप्त होता है ?

बहुत सी विलक्षण वस्तुओं का आविष्कार करने वाले वैज्ञानिक, शक्तिशाली सम्राट, जिन्होंने आवचर्यजनक कार्य किये, धार्मिक कवि, अद्भुत कलाकार, असंख्य ब्राह्मण, ऋषि, योगा आये और चले गये । सभी यह जानने के इच्छुक हैं कि वे कहाँ चले गये, क्या अभी भी उनका अस्तित्व हैं? मृत्यु के उस पार क्या है? क्या वे अस्तित्वहीन हो गये या शून्य वायु में विलीन हो गये? ऐसे प्रश्न निर्बाध रूप से सबके हृदय में उठते रहते हैं। इन प्रश्नों को कोई रोक नहीं सकता, क्योंकि यह हमारी प्रकृति से अभिभाज्य रूप से जुडा हुआ है ।

मृत्यु एक ऐसा विषय है जो सबकी गहन उत्सुकता से सम्बन्धित है । आज या कल सभी मरेंगे । मृत्यु का भय सभी मानव प्राणियों पर छाया रहता है।

इन प्रश्नों ने पश्चिम में भी बहुत से वैज्ञानिक क्षेत्रों में बडे परिणाम में रूचि एवं ध्यान आकर्षित किया है । बहुत से परीक्षण किये गये हैं, लेकिन ये अनुसन्धान इसी प्रश्न तक सीमित रहे है कि भौतिक शरीर के नाश के पश्चात् आत्मा रहती है या नहीं या आत्मा का अस्तित्व है या नहीं । विज्ञान तथा माध्यम के द्वारा प्रेतात्म–जगत् से सम्बन्ध स्थापित कर आत्मा के अस्तित्व को प्रमाणित कर दिया गया है ।

इसका विज्ञान मृत्यु के सभी भयों को हरण कर लेगा एवं मनुष्य को इस योग्य बनायेगा कि मृत्यु को जीतने का एवं अमरता प्राप्त करने का उचित ढंग खोजने के लिए उकसायेगा ।

योगसाधना का एक लक्ष्य मृत्यु का प्रसन्नता और निर्भयता से सामना करना है । एक सच्चे साधक को मृत्यु का भय नहीं रहता । मृत्यु उन लोगों से काँपती है जो जप, तप और ध्यान करते हैं । मृत्यु के दूत उस तक पहुँचने का साहस नहीं कर सकते । भगवान् कृष्ण भगवद्गीता में कहते हैं– "मेरी शरण में आने से ये महात्मा फिर जन्म को प्राप्त नहीं होते, जो दुःख एवं मृत्यु का लोक है, वे परमानन्द में मिल हो जाते हैं ।

मृत्यु एक सांसारिक व्यक्ति के लिए दुखदायक है । एक निष्काम कर्मयोगी मरने के बाद फिर कभी जन्म नहीं लेता । भीष्म की मृत्यु उनकी अपनी इच्छा पर निर्भर थी । सावित्री अपने पति सत्यवान को अपनी सतीत्व–शक्ति के बल पर वापस लायी । हम भी ज्ञान, भक्ति और ब्रह्मचर्य के बल पर मृत्यु को जीत सकते हैं ।

जीवन :–

'मृत्यु' के समझने से पूर्व 'जीवन' को जान लेना चाहिए, फिर मृत्यु का प्रश्न स्वयं हल हो जायेगा । उसके लिये किसी उद्योग की आवश्यकता नहीं पड़ेगी । जीवन उस परम ज्योति का नाम है, उस महान् विशाल शक्ति का नाम है, जो जगत् के प्रत्येक पदार्थ को स्फुरण देती और उसे आगे बढाती है । संसार की समस्त वस्तुयें हमें घटती–बढती और चलती फिरती दृष्टिगोचर होती है । यह

सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड ही जीवन से ओत–प्रोत है । एक इंच भी जगह यहाँ ऐसी नहीं जो जीवन से खाली हो । विश्व के जिस भाग से जीवन नष्ट हो जायेगा, वहाँ महाप्रलयकाण्ड उपस्थित हो जायेगा । वह ऐसा मिट जायेगा कि वहाँ के परमाणुओं का ढूँढने पर भी पता नहीं चलेगा ।

इस जीवन का एक भाग हमारे भी हिस्से में आया है । हम उसी के कारण जीवित कहे जाते हैं, उसी शक्ति से हम अपनी इन्द्रियों, मन–बुद्धि और शरीर को चलाते फिराते और काम लेते है । जिस दिन जीवन समाप्त हो जायेगा, हमारे सारे व्यवहार बन्द हो जायेंगे । हम कोई काम नहीं कर सकेंगे, यही हमारी 'मृत्यु' है ।

मृत्यु का स्वरूप :–

इस स्थूल शरीर से जीवात्मा का पृथक हो जाना ही मृत्यु कहलाती है । मृत्यु होने पर शरीर बेकार हो जाता है, आत्मा को वहाँ फिर सुख नहीं मिलता । अतः वह उसे त्याग कर दूसरे स्थान को निकल जाती है और अपने सुख के लिये दूसरे शरीर की खोज करने लगती है और मिल जाने पर उसी में निवास करने लग जाती है । अतः मनुष्य में जो चैतन्यता है, उसके निकल जाने पर मृत्यु हो जाती है । उदाहणतया– किसी मकान की दीवारें और छत इतनी जर्जर हो जायें कि उनमें रहने वालों की रक्षा जल वायु और धूप से न हो सकें, तो वे उसे त्याग कर दूसरे स्थान पर चले जायेंगे और अपनी सुविधा के अनुसार घर तलाश कर रहने लगेंगे । इसी प्रकार चैतन्य स्वयं ही अपने लिये दूसरा घर ढूँढता है । अब यह प्रकृति का काम रहा कि उसे हैसियत के अनुसार स्थान दें।

जिसके जैसे कर्म होंगे उसी को देखकर दूसरा शरीर दे दिया जाता है । जीव उसमें रहने के लिए विवश होता है ।

मृत्यु के अनन्तर ही नवीन तथा उत्तम जीवन का प्रारम्भ होता है । मृत्यु मनुष्य के व्यक्तित्व और आत्म चेतना को रोकती नहीं । यह तो जीवन के उत्तम स्वरूप का द्वार उन्मुक्त करती है । इस भाँति मृत्यु पूर्णतर जीवन का प्रवेश द्वार है जिस प्रकार मनुष्य एक घर से निकल कर दूसरे घर में प्रवेश करते है उसी प्रकार जीवात्मा कर्मों के अनुसार एक शरीर से निकल कर दूसरे शरीर में जाता है । जिस प्रकार एक मनुष्य फटे पुराने वस्त्रो को निकाल फैंकता है तथा नये वस्त्र धारण करता है, उसी भाँति इस शरीर का निवासी जीर्ण शीर्ण शरीर को फैंक कर नये शरीर में प्रवेश करता है ।

इस शरीर से जीवात्मा का अलग होना, निद्रा से अधिक कोई विशेष बात नहीं । जिस प्रकार मनुष्य सो जाता है और जाग जाता है, उसी प्रकार जन्म और मृत्यु यें दोनों ही हैं । मृत्यु निद्रा की सी दशा है और जन्म जागृति की सी दशा है । मृत्यु श्रेष्ठतर नवीन जीवन का विकास करती है ।

प्रत्येक जीवात्मा की स्थिति एक वृत के समान है । इस वृत की परिधि किसी भी स्थान पर नहीं है, परन्तु इसका केन्द्र इस शरीर में है । एक शरीर से दूसरे शरीर में इस केन्द्र का स्थानान्तरित होना ही मृत्यु कहलाती है ।

गीता में भगवान् कृष्ण अर्जुन को समझाते हुए कहते हैं कि आत्मा तो किसी तरह मरता नहीं केवल शरीर का नाश होता है । जिस प्रकार शरीर की बाल्यावस्था, युवावस्था और वृद्धावस्था तीन अवस्थायें होती हैं, उसी प्रकार जीव

भी एक शरीर को छोड़कर दूसरा शरीर पाता है ।[1] यह शरीर विनाशी है । इसमें जो जीव रहता है, वह अविनाशी और परिणामरहित है । यह आत्मा अमर है ।[2] इस आत्मा को न कोई मार सकता है और न यह मरता ही है, क्योंकि आत्मा किसी तरह मरता ही नहीं, केवल शरीर का नाश होता है ।

यह आत्मा न कभी जन्म लेता है , न मरता है, न कभी पहले हुआ था और न कभी आगे होगा । यह आत्मा जन्मरहित है नित्य है और सनातन पुरातन है । शरीर का नाश नहीं होता ।[3] जैसे– मनुष्य पुरातन वस्त्रों को त्याग कर नये वस्त्रों को धारण कर लेता है । तात्पर्य यह है कि जैसे पुराने वस्त्रों को त्यागने में कुछ कष्ट नहीं होता, वैसे ही देह के त्यागने में भी कुछ कष्ट नहीं होना चाहिए ।[4]

1. देहिनोऽस्मिन्यथा देहे कौमारं यौवनं जरा ।
तथा देहरान्तरप्रप्तिर्धीरस्तत्र न मुह्यति ।।
– भ0गी0 अ0 2

2. अन्चनत इमें देहा नित्यस्योक्ताः शरीरिणः ।
अनाशिनोऽप्रमेयस्य तस्माद्युध्यस्वत भारत ।।
– भ0गी0अ0 2

3. न जाययते म्रियते वा कदाचिन्नायं भूत्वाभरिता वान भूयः ।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे ।।
– भ0गी0अ0 2

4. वासांसि जीर्णानि यथा विहाय नवानि गृह्न्नाति नरोऽपराणि ।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णन्यन्यानि संयाति नवानि पावकः ।।
– भ0गी0अ0 2

इस आत्मा को शस्त्र छेद नहीं कर सकता, अग्नि जला नहीं सकती, जल इसे भिगो नहीं सकता और पवन सुखा नहीं सकता, क्योंकि यह नित्य, सर्वव्यापक, स्थिर, अचल और शाश्वत् है ।[1] यह आत्मा इन्द्रियों से परे है । मन से विचार के योग्य नहीं है। ऐसे विचार रहित आत्मा को जानकर इसके लिये सोच नहीं करना चाहिये । जिसने जन्म लिया है वह अवश्य मरेगा और जो मरा है वह अवश्य जन्म लेगा ।[2]

वास्तव में परमात्मा अपने वास्तविक स्वरूप को भी जानता है, अपनी सृष्टि को भी जानता है चैतन्य एवं सृष्टि के योग रूप जीववात्माओं को भी जानता है । किन्तु जीव इनमें से किसी रूप को नहीं जानता, इसलिए वह अल्पज्ञ और अशक्त होता है । वह संस्कारों के जाल में अपने को भोक्ता मानने के कारण बद्ध होता है और जन्म मरण के चक्र में घूमता है ।

यह जीवन एक प्रकार की वाष्प (भाप) है, जो जल, अग्नि और वायु से तैयार होती है। यह गैस हमारे शरीरों में हर समय तैयार होती रहती है और पृथ्वी तत्व से बने हुए अनेक कल–पुर्जो को जो हमारे शरीर के अन्दर विद्यामान हैं,

---

1. नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः ।
न चैनं क्लेदयन्त्यापो न शोषयति मारुतः ।।
अच्छेद्योऽयमचिन्त्योऽयमविकार्योऽयमच्यते।
नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽयं सनातनः ।।
— भ०गी०अ० 2

2. जातस्य हि ध्रुवो मृत्युर्ध्रुवं जन्म मृतस्यच ।
तस्मादपरिहार्येऽर्थे न त्वं शोचितुमर्हसि ।।
— भ०गी०अ० 2

ठोकर देती रहती है । इससे वे क्रिया में आ जाते हैं । उस समय हमारे अन्दर निवास करने वाली शक्तियाँ (मन, बुद्धि, ईर्ष्या उठ खडी होती है और अपने अपने काम में लग जाती हैं), इस प्रकार आँखें देखती हैं, कान सुनता है, मुख बोलता है, पाँव चलता है, मन सोचता है, इत्यादि । यह सब इसी शक्ति के आधार पर होता है, यह न रहे तो सबके कार्य बन्द। मृत्यु के समय अग्नि मन्द पड़ जाती है, चुल्हा बुझ जाता है, फिर भाप कौन बनाये, इसलिये सारे कारोबार रूक जाते हैं । इस भाप का नाम ही 'प्राण' है । वेदों ने प्राण को ब्रह्म तक कह डाला है । उपनिषदों में भी प्राण की बडी महत्ता दी है, प्रश्नोपनिषद् में इस प्रसंग की एक बडी रोचक गाथा आई है –

एक समय महर्षि पिप्पलादि ने भृगुकुलोत्पन्न ब्रह्मचारी वैदर्भि से जाकर पूछा– हे भगवन्! कितने देव (शक्तियाँ) इस शरीर को धारण करते हैं ? कितनी शक्तियाँ इसे प्रकाशित करती हैं और कौन उनमें श्रेष्ठ है । ऋषि कहने लगे – वेदर्भि! हम तुम्हें एक गाथा सुनाते हैं, इस पंच–भौतिक शरीर के प्रकाशन करने वाली पाँच तत्व, पाँच ज्ञानेन्द्रियों और मन को यह अभिमान हुआ कि हम ही इस शरीर के पालक, पोषक और संचालक हैं, हमारे बिना इसका कोई कार्य नहीं हो सकता ।[1] इस पर प्राण बोला– तुम सब झूठे हो, यह देह मेरे कारण थमी हुई है, तुम सबको मैं ही बल दे रहा हूँ, यदि निकल जाऊँ तो तुम्हारे सब कार्य रूक जायें । परन्तु प्राण की इस बात को किसी ने स्वीकार नहीं किया । प्राण ने

1. अथ हैनं भार्गवो वैदर्भिः पप्रच्छ भगवन कत्येव देवाः
प्रजां विधरयन्ते, कतर प्रकाशयन्ते क पुनरेषां वरिष्ठ इति ।।
– प्र0उप0द्वितीय प्रश्न

कहा–यदि तुम नहीं मानते तो तुम सब एक–एक करके इस शरीर से अलग हो जाओ और फिर देखो कि–शरीर रहता है या नहीं । इस पर आँखे निकल भागी, पर शरीर का व्यवहार ज्यों का त्यों होता रहा । फिर कान निकल भागे, पर इससे भी बहरों की भँति वह अपना कार्य करता रहा । वाणी बन्द हो गई, पर शरीर का कुछ न बिगडा । इसी प्रकार सभी ने अपना–अपना कौतुक दिखाया और अन्त में बडे गर्व से मन कहने लगा – देखो! अब मैं जाता हूँ । मेरे जाते ही तुम कुछ न कर सकोगे । मन चल दिया, पर शरीर फिर जैसे का तैसा ही रहा, जैसा कि योगियों का रहता है योगी लोग मन को मार लेते हैं पर क्या मन के साथ शरीर भी मर जाता है ? नहीं । अन्त में प्राण की बारी आती है उसने कहा– सम्भल जाओ अब मैं निकलता हूँ । प्राण ने जब अपने को खीचा सब खिचने लगे और शरीर के सारे व्यवहार बन्द हो गये ।

इस प्रकार अनुभव को प्राप्त हो शरीर स्थित सारी शक्तियाँ प्राण की स्तुति करने लगी ।[1]

---

1. तान वरिष्ठः प्राण उवाच। मा मोहमापद्यथ । अहमेवैतत!
पंचधाऽऽत्मानं प्रतिभज्यैतद्बाणमवष्तृभ्य विधारयामि इति।
– प्र0उप0 द्वितीय प्रश्न

2. सोऽभिमानदूर्ध्वमुत्क्रमत इव, तस्मिन्नुत्क्रामत्थेतरे सर्व एवोत्क्रामन्ते, तस्मिंश्र प्रतिष्ठमाने सर्व एव प्रातिष्ठन्ते ।
तद्यथा मक्षिका मधुकरराजानमुत्क्रामन्ते सर्वा एवोत्क्रमान्ते,
तस्मिँश्र प्रतिष्ठाने सर्वा एवं प्रातिष्ठनत, एवं वागंनश्रक्षुः
श्रोत्रं च । ते प्रीताः प्राणं स्तुवन्ति ।
– प्र0उप0 द्वितीय प्रश्न

चैतन्यात्मा :–

जिस प्रकार ईंजन में भाप अपने आप नहीं बन जाती, उसे एक चैतन्य (ड्राईवर) बनाता है इसी प्रकार इस प्राण को भी एक चैतन्य शक्ति बनाती है, प्राण स्वयं जड़ है । यह किस प्रकार शरीर में रहकर अपना व्यवहार करता है, कैसे जीवात्मा को एक शरीर से निकाल कर दूसरे में प्रवेश कराता है, इस पर व्याख्या उपनिषदों में आई है, वे कहती हैं – छाया की तरह यह शरीर से बँधा हुआ रहता है और कर्मानुसार मनोमय आत्मा को शरीरों में ले जाता है,[1] यह कैसे उसे ले जाता है , इसका भी वर्णन इस प्रकार है ।

हृदय में जहाँ हर आत्मा का निवास है, वहाँ से एक सौ एक नाडियां निकल कर शरीर के चारों ओर गई हैं । आगे इन सबके सौ–सौ भेद और हो गये है । फिर इन्हें एक शाखा नाड़ियों में से बहत्तर हजार सूक्ष्म नाड़ी और निकली हैं । इस प्रकार 10100 + 72000 नाडी सूक्ष्म शरीर से फैलकर अपना कार्य कर रही हैं । इन सबका अधिष्ठाता प्राण है, इसी के द्वारा इनमें कार्य होता रहता है । यह सब बहत्तर करोड़ बहत्तर लाख हुई । इनमें से एक नाड़ी (सुषुम्ना) ऊपर की ओर गई है, जो शुभ कर्म करता है,

1 यथा एषा पुरूषे छाया, एतस्मिन एतद आततं।
मनोकृतेन आयाति अस्मिनशरीरे ।।
– प्र0उप0तृतीय प्रश्न

उसका प्राण इस सुषुम्ना नाड़ी में गमन करता हुआ जीवन में भी ओर मरने के पश्चात भी सुख और शान्ति देता है और पुण्य लोकों को प्राप्त करता है ।[1] इसके विपरीत पापी का प्राण नीच योनियों और दुःखमय लोकों में ले जाता है और जिनके पाप पुण्य दोनों समान होते हैं, उन को मनुष्य शारीर में डाल देता है ।

विचार और प्राण :—

लिंग शरीर से एक प्रकार की भाप हर समय निकला करती है । जो भाप की तरह स्थूल शरीर के आस—पास तीन फुट का घेरा बनाये रहती है । इस भाप (प्राण) में पंच तत्वों के सूक्ष्म परमाणु भरे रहते हैं । प्राण यद्यपि सर्व—व्यापक शक्ति है ।[2] वह शरीर के रोम—रोम में व्याप्त होकर जैसे अपना काम करती है, इसी प्रकार यह मन और चित्त के साथ गुँथी रहती है और मन के परिवर्तन के साथ ही साथ वह भी अपना रंग रूप बदलती रहती है । मन सकंल्प—विकल्प और विचारों का एक समूह है, इसमें हर समय नये—नये विचार उठते और नाश होते रहते हैं । यह विचार तामसी—राजसी और सात्विकी भेदों से कई प्रकार के होते हैं । तब एक विचार नष्ट होकर दूसरा उभरता है, तो एक कम्पन शुरू होता

---

1. हृदि शेष आत्मा । अत्रै तडेकश त नाड़ीरां तासा शतं
शतमेकैकस्याँ द्वासप्तति र्द्वासप्ततिः प्रति शाखा नाडी
सहस्त्राणि भवन्त्यासु व्यानश्चरित ।।
पापमुभाभ्यामेव मनुष्य लोकम् ।।
— प्र0उप0 तृतीय प्रश्न

२. या ते तनूर्वाचि प्रतिष्ठिता या श्रोत्रे या च चक्षुषि ।
या च मनसिं संता शिवां ता कुरू मोत्क्मीः ।।
— प्र0उप0प्र0—चतुर्थ

है । वह अपने उठने के स्थान से धीरे–धीरे आगे बढ कर सारे मन पर आच्छादित हो जाता है । उस समय मन अपना पिछला रूप त्याग कर नया रूप धारण कर लेता है । मानों कि – सूक्ष्म शरीर ने पुराने कपड़े उतार कर एक नया जामा पहन लिया हो । अथवा उसके पिछले शरीर की मृत्यु हो गई हो और एक नई योनि में प्रवेश हुआ हो। इस प्रकार का आवागमन हर समय हर सैकेण्ड चलता रहता है ।

चौरासी लाख योनियों में स्थावर–जंगम–अण्डज–स्वेदज सभी प्रकार के जीव आ जाते हैं । इन योनियों में कर्मानुसार जीव का आवागमन होता रहता है। इसका क्रम भी यही है कि पहले सूक्ष्म शरीर में परिवर्तन होता है, फिर लिंग–शरीर, उसके बाद स्थूल में परिवर्तन होता है । मृत्यु के समय कामी व्यक्ति की मुखाकृति और तरह की होती है कपटी, कुचाली के स्वभाव को मनुष्य की आँखें और मुख अलग बता देते हैं । शान्त पुरुष की शान्ति उसके सारे शरीरी अवयवों से फूट–फूट कर बहने लगती है, इत्यादि ।

मृत्यु के समय की वृति के आधार पर योनि की प्राप्ति :–

मृत्यु और कुछ नहीं– केवल स्थूल शरीर और प्राण का हमेशा के लिए अलग हो जाना है । उस समय जैसी वृति व वासना का प्राबल्य होगा, उसी के अनुसार उसके लिंग शरीर का आकार होगा और उसी के अनुसार उसे दूसरी योनि प्राप्त होती है ।[1]

1. यं यं वादि स्मरन्भाव व्यजव्यन्ते कलेवरम् ।
तं तमेवैति कौन्तेय सदा तुद्रावभावितः ।।
भ0गी0अ0 8

उसी वृति के आधार पर मनुष्य को योनि प्राप्त होती है, अंत मता से गता[1] इन चौरासी लाख योनियों में देव योनि और प्रेत योनि भी है । जो प्राणी बुरी वासनाओं के शिकार रहते हैं, बुरे कर्म करते हैं, उन्हें महा दुखदायी 'प्रेतयोनि' मिलती है । इस योनि वालों को महाकष्ट होता है, यही साक्षात् नरक है । यह जीव कुछ दिवस कर्मानुसार वहाँ रहकर फिर स्थूल योनि में आते हैं, पर मनुष्य नहीं बनते । जो लोग जीवन में सत्कर्म करते हुए, दूसरों के साथ उपकार करते हैं, वे देवयोनि में भेजे जाते हैं । यह स्वर्ग हैं, यहाँ का भाग समाप्त करके वे फिर मनुष्य योनि में आ जाते हैं । इसी प्रकार यह क्रम सतत् चलता रहता है।

मृत्यु के समय होने वाला कष्ट :–

मृत्यु के समय महान् कष्ट होता है । मनुष्य के शरीर में प्राण रोम–रोम में गुँथा रहता है । वह सारे शरीर में ऐडी से चोटी तक व्यापत होता है । मृत्यु के समय यह प्राण अंग प्रति अंग से निकल बाहर आता है । उस समय प्राणों का खिंचाव बहुत पीडा देता है । सहस्र बिच्छुओं के काटने के समय जितनी पीडा हो सकती है, उतनी ही प्राण त्यागने के समय प्राणियों को हुआ करती है । उस समय ऐसा लगता है कि पॉव सनसना रहे हैं, जब यही खिंचाव और सनसनी ऊपर को बढने लगती है, तो इन्द्रियों को बेकार बना देती है और अन्त में ज्ञान रखता हुआ भी प्राणी इन्द्रियों को अपने शासन में नहीं रख सकता– ऑख खुली है पर दिखाई नहीं देता, कान बन्द न होने पर भी सुनाई कुछ नहीं पडता, जिह्वा

1. अतं मता सो गता – गुरू नानकदेव

रखते हुए भी न स्वाद ले सकता है, न बोल सकता है, कंठ रूक जाता है, इत्यादि । इसके पश्चात् हृदय की गति मन्द पडने लगती है । उस समय अत्यन्त घबराहट और बैचेनी उत्पन्न होती है । इस प्रकार प्राण पिण्ड से खिंचकर मस्तिक की ओर चला जाता है । और वहाँ जाकर बन्दी बन जाता है । यह सब किसी अज्ञात शक्ति की प्रेरणा से होता है । इतना होने पर भी उसके मन और बुद्धि बेकार नहीं हो जाते, उसे अपनी सारी दशाओं की खबर रहती है । उस समय घबडाया हुआ चित्त अपनी संचित की हुई कमाई (चाहे वह धर्म की हो अथवा अधर्म की) की याद करने लगता है । अपनी विवशता और कष्ट को देखकर पश्चाताप करता है । डूबने वाला जिस प्रकार तिनके का सहारा ढूँढा करता है, उसी प्रकार यह भी अपने मन को भटकाता है । परन्तु वही शक्ति उसे एक और ऐसा धक्का देती है कि जिससे वह बेहोश होकर फिर दिमाग के नीचे के स्थानों में गिरता है और आँख नाक, कान, मुँह तथा उपस्थ वा गुदा के किसी द्वार से बाहर निकल जाता है ।

गरूड़ पुराण के मतानुसार शरीर में होने वाली व्याधियों के कारण इस शरीर की शक्ति क्षीण पड़ जाती है और उसके परिणाम स्वरूप नाडियों के संकोच एवं विकास की गति अवरूद्ध हो जाती हैं । इस गति के अवरूद्ध होने से शरीर अपना सन्तुलन खो बैठता है तथा इससे पीड़ा अनुभव करता है । वायु के दबा लेने पर आँखे निकल आती है, कफ के बढ जाने से आँखें बन्द हो जाती है ।

खाँसी और श्वास के चलने के परिश्रम से कण्ठ में घुर–घुर का शब्द होने लगता है ।[1] शोक संयुक्त बन्धु–बान्धनों से घिरा हुआ काल के जाल में पडकर कुछ बोल नहीं सकता । जिसने सांसारिक वासनाओं में पडकर इन्द्रियों को नही जीता, उसे मरते समय सौ बिच्छु के काटने के समान वेदना को भोगता हुआ शरीर का त्याग करता है ।[2] पापी मनुष्य के प्राण मृत्यु के समय बडे कष्ट के साथ निकलते हैं, एक क्षण का समय भी उनके लिये एक कल्प समान बीतता है।[3] मृत्यु के समय मुँह पर झाग ही झाग फैल जाते हैं – लार निकलने लग जाती है इस प्रकार पापी के प्राण अधोद्वार से निकलते हैं ।[4]

श्रीमद्भागवत् पुराण में भी इसी प्रकार का वर्णन किया गया है कि मृत्यु का समय निकट आने पर श्वासोच्छवास की किया में अवरोध होने से मनुष्य अचेत हो जाता है । नाडियों में कफ रूकने के कारण सांस लेने में बड़ा कष्ट

1. वायुनोत्क्रमतोत्तारः कफसंरूद्धनाडिकः ।
कासश्वासकृतायासः कंझे घुरघुरायते ।।
– ग0पु0प्र0क0अ0 1

2. एवं कुटुम्बभरणेव्यापृतात्माजितेन्द्रियः ।
म्रियतेरूदतांस्वानां गुरूवेदनयाऽस्तधी ।।
– ग0पु0प्र0क0अ0 1

3. स्वस्थानाच्चलिते श्वासे कल्पाख्यो ध्यातुरक्षणः ।
शतवृश्चिकदष्टस्य या पीडा साऽनुभुयते ।।
– ग0पु0प्रे0क0अ0 1

4. फेन मुद्गिरते सोऽथ मुखं लालाकुलं भवेत् ।
अधोद्वारेण गच्छन्ति पापिनां प्राणवायवः ।।
– ग0पु0प्रे0क0अ0 1

होता है तथा कफ के बढ़ जाने के कारण कण्ठ में घुरघुराहट होने लगती है ।[1] वह अपने शोकातुर बन्धु–बान्धवों से घिरा हुआ पड़ा रहता है और मृत्युपाश के वशीभूत हो जाने से उनके बुलाने पर भी नहीं बोल सकता ।[2]

इस प्रकार मूढ़ पुरूष इन्द्रियों को न जीतकर निरन्तर कुटुम्ब–पोषण में ही लगा रहता है, वह रोते हुए स्वजनों के मध्य अत्यन्त वेदना से अचेत होकर मृत्यु को प्राप्त होता है ।[3]

व्यक्ति की सम्पूर्ण वासनाएँ और आसक्तियाँ जो उस समय उसके अन्दर वर्तमान थी, वे सब की सब बाहर निकल आती हैं, जो व्यक्ति सम्पूर्ण वासनाओं तथा संस्कारों के साथ रहने वाले प्राण शरीर के साथ शरीर से बाहर निकल आते हैं और वायु में भटकते रहते हैं । वायु में रहने वाले यें जीव अपने पूर्व अनुभवों के कारण, उन प्राणों के अन्दर टिके रहते हैं ।

1. वायुनोत्क्रमतोत्तारः कफसंरूद्धनाडिकः ।
कासश्वासकृतायासः कण्ठ घुरघुरायते ।।
— भा0पु0स्क0तृतीयअ0 30

2. श्यानः परिशोचद्भिः परिवीतः स्वबन्धुभिः ।
वाच्यमानोऽपि न ब्रूते कालपाशवशं गतः ।।
— भा0पु0स्क0तृतीयअ0 30

3. एवं कुटुम्बभरणेव्यापृतात्माजितेन्द्रियः ।
म्रियतेरूदतांस्वनामुरू गुरूवेदनयाऽस्तधी ।।
— भा0पु0स्क0तृतीयअ0 30

मार्कण्डेय पुराण में मृत्यु के समय और उसके पश्चात जीवात्मा को क्या–क्या यातनाएँ दी जाती है, इसका वर्णन मिलता है । जो मोह और अज्ञान की शिक्षा देते हैं, उन अर्धमियों को मृत्यु के समय अत्यन्त भय और घोर पीडा की प्राप्ति होती है । मिथ्या साक्षी देने वाले, मृषावादी वेदनिंदक तथा कुशासकों की अज्ञान से मृत्य होती है[1] तथा उनके मरणकाल में अत्यन्त घृणित वेश वाले भयंकर यमदूत मुद्गर हाथ में लिये हुये आते हैं । जैसे ही उन्हे यमदूत दिखाई पडते हैं। वैसे ही कम्पित शरीर से भ्राता, माता और पुत्र को पुकारते हुए रूदन करते हैं ।[2] उस समय उनकी बात समझने में नहीं आती, वर्ण विकृत होता है और दृष्टि घूमने लगती है, त्रास और उच्छावास से मुख भी सूख जाता है । फिर उर्ध्वश्वास चलती है, नेत्र दृष्टि नष्ट होती है और वेदना से ग्रसित हो प्राण छूट जाते हैं ।[3]

---

1. कूटसाक्षीमृषावादीश्चासदनुशारित्तवै ।
तेमोहमृत्युयवः सर्वेतथामेवेदनिन्दिकाः ।।
— मार्क0पु0अ0 10

2. विभीषणा पूतिगन्धाः कूटमुद्गरपाण्यः ।।
आगच्छन्तिदुरात्मातोयमस्यपुरूषास्तथा ।।
प्राप्तेषुदृक्पंथतेषुजायतेतस्यवेपथुः ।
क्रन्दत्यविरतसोऽथभ्रान्तमातृसुनानथ ।।
— मार्क0पु0अ0 10

3. सास्यवागस्फुटातातएकार्णवर्णाविभात्यते ।
दृष्टिश्चभ्राम्यतेत्रासाच्छवासाच्छुष्यत्यथाननम् ।।
उर्ध्वश्वासान्वितः सोऽथदृष्टिभक्संमन्वितः ।
ततः सवेदनाविष्टस्तच्छशरीरविमुचति ।।
— मार्क0पु0अ0 10

इसके पश्चात् कर्मफल रूप यन्त्रणा का भोग करने के लिए बिना माता–पिता के उत्पन्न होने वाले अन्य शरीर धारण करता है । फिर यम्दूत उन्हें क्षरूण पाश में बांध, दण्ड प्रहार करते हुए दक्षिण की और खींचते है ।[1] कुछ, काँटे, वाल्मीक, शंकु तथा पत्थर से भी कठोर एवं कहीं प्रज्वलित अग्नि से व्याप्त तथा यम्दूतों से खींचे जाते हैं । इस प्रकार उस प्राणी को सैंकडों गीदड खाते हैं, ऐसे मार्ग से पापी पुरूष को यमलोक को जाना होता है । बारहवें दिन पापी मनुष्य क्लेशों को भोगता हुआ धर्मराज के पुर में पहुँचते है ।[2]

वहाँ पहुँचकर यामराज दण्ड और पाश धारण किये हुये अत्यन्त भयंकर आकर वाले हैं, उन्ही के द्वारा निर्दिष्ट श्रेष्ठ और निम्न गति को पापी प्राप्त करते है । मिथ्यावादी तथा मिथ्यासाक्षी देने वालों को रौरव नरक में डाला जाता है । ब्रह्म हत्यारे, गो हत्यारे तथा पिता की हत्या करने वाले, खेत, सीमा, धरोहर, या स्त्री का हरण करने वाले गुरू पत्नी या कन्या से समागम करने वाले भी इसी

1. ततोदूतोयमस्याशुपाशैर्वहनातिदारूणै : ।
   दण्ड प्रहारसं भ्रान्तकर्षतेदक्षिणांदिशम् ।।
   कुशकष्टकवाल्मीकशकुपाषणकर्कशैः ।
   तथा प्रदीप्तुज्जवल नेक्वचिच्छवभ्रशतोत्कटे ।।
   — मार्क0पु0अ0 10

2. विकृष्यमानस्तैधेरिर्भक्ष्यमाणः शिवाशतै : ।
   प्रयातिदारूणेमार्गेपापकर्मायम्रक्षयम् ।।
   एवंक्लेशाननुभवन्नवशः पापपीडितः ।
   नीयतेद्वादशाहेनधर्म राजपुंरतरः ।।
   — मार्क0पु0अ0 10

रौरव नरक को प्राप्त होते हैं । इसी प्रकार अन्य नरकों को प्राप्त करता है । इस प्रकार सब नरकों को भोगकर तिर्यक योनि को प्राप्त होता है । क्रमशः कृमि, कीट, पंतग और मच्छर होती है । फिर वह अश्व, गज, वृक्ष, लता आदि अनेक पाप योनियों को प्राप्त करता है इसके पश्चात मनुष्य योनि प्राप्त होती है ।[1]

जिस गति को पुण्यवान् मनुष्य पाते हैं वह भी यमराज द्वारा निर्दिष्ट की गई होती है । उसके गमन काल में चारों ओर गन्धर्व गान करते हैं । विमान उनके पास आते हैं और वे दिव्य माल्यादि धारण कर उनमें चढकर जाते हैं । फिर पुण्य समाप्त होने पर उच्च कुल में जन्म लेकर सुख भोगकर क्रमशः उर्ध्वगति को पाते हैं यह अवरोहिनी गति को प्राप्त होते हैं ।

मृत्यु का दृश्य :–

प्राण निकलने के समय मरने वाले की ज्ञान शक्ति नष्ट हो जाती है, परन्तु वह क्षणिक होती है । थोड़ी देर के पश्चात ही उसे होश आने लगता है और वह अपने स्थूल शरीर के समीप अर्द्ध–निद्रा की अवस्था में खड़ा हुआ दिखाई देता है। जिस प्रकार अग्नि पर धुएँ की शिखा आकाश की ओर उठती हुई दिखाई देती है, उसी प्रकार प्राण धुआँ बनकर शरीर से निकला करता है और यह प्राण की रेखा पहले सीधी आकाश का ओर चली जाती है । फिर वहाँ से तुरन्त लौट

1. ततः सर्वेषुनिस्तीर्णः पापीतिर्यक्त्वमश्नुते ।
कृमिकीटपतंगेषुश्वाहयदेमशकादिषु ।।
गत्वागजद्र माद्येषुगोष्वश्वेषुतथेवच ।
अन्यासुचैवपापसुदुःखदामुचयोनिषु ।।
मार्क0पु0अ0 10

कर मृतक शरीर के समीप आकर ठहर जाती है । और थोडी देर में वह छाया की तरह प्राण शरीर बन कर खडा हो जाता है। इसलिए इसे छाया पुरूष व छाया शरीर के नाम से भी पुकारते हैं ।

योगियों का प्राण :—

उच्चकोटि के योगी तथा महात्माओं का प्राण शरीर नहीं रहता । उनकी स्थिति कारण शरीर में रहती है, जो सूक्ष्म से भी परे है । योगियों के यहॉ प्राण को नव द्वारों में से निकलने को अच्छा नहीं समझते । वे अपनी शक्ति से उस समय दसवॉ द्वारा खोलते हैं, जो कि सिर में चोटी के स्थान पर है । इसका नाम ब्रह्मरन्ध्र है । यह इतना सूक्ष्म है कि यूरोप और अमेरिका के वैज्ञानिकों को अभी तक इसका पता नहीं चला । वर्तमान मैडिकल साइन्स की पुस्तकों में इसका वर्णन नहीं आता, परन्तु आयुर्वेदिक ग्रन्थ 'चरक' इत्यादि इसकी व्याख्या करते हैं।

मुनष्य का सिर तीन गोल हड्डियों से मिलकर बना है, जिन्हे माथे की हड्डी (Erontal Bone) चंदिया की हड्डी (Parietal Bone) पीछे की हड्डी (Occiptial Bone) कहते हैं । यह तीनों हड्डियॉ सात वर्ष की आयु तक अलग अलग रहती है । पीछे एक दूसरे से ऐसे जुड जाती हैं मानों एक ही हैं । इनके अन्दर मनुष्य के दिमाग का भेजा (सारत्तव) सुरक्षित रहता है और इसी दिमाग में जीवात्मा निवास करता है ।

जो योगी कठिन परिश्रम के द्वारा प्राण पर अधिकार प्राप्त कर लेते हैं, वह मृत्यु के समय अपने अन्य द्वारों को रोक कर खोपड़ी की हड्डी में प्राण की टक्कर देते हैं । इस टक्कर से हड्डियों के जोड़ खुल जाते हैं और सुषुम्ना नाड़ी

बाहर निकल आती है। इसी सुषुम्ना का आदि भाग 'ब्रह्मरन्ध्र' कहलाता है । यह सुषुम्ना चोटी से आरम्भ होकर गुदा तक गई है । वहाँ से दो भागों में बँटकर ऐडी तक चली गई है । योगी प्रथम अपने प्राण सब ओर से खींच कर सुषुम्ना में प्रवेश करता है । फिर धीरे–धीरे ऊपर उठाता हुआ सुषुम्ना के आदि भाग से होकर बाहर निकाल देता है ।

जो लोग इस प्रकार अपने प्राण त्यागते हैं, उनको फिर से स्थूल और सूक्ष्म के लोकों मे भ्रमण नहीं करना पड़ता । वे सीधे तपलोक में जाकर ठहरते हैं । हृदय से एक सौ एक नाड़ी निकली हैं, जिनमें एक सुषुमना नाड़ी है, जो ब्रह्मरन्ध्र में आई है । इस नाड़ी द्वारा गमन करने वाला प्राणी अमरत्व को प्राप्त होता है और शेष अन्य मार्ग से जाने वाले नाना गतियों को प्राप्त होते हैं ।[1]

ब्रह्मरन्ध्र द्वारा प्राणः—

जो लोग प्राणायाम का अभ्यास करके निपुण हो जाते हैं, उनको यह अधिकार प्राप्त हो जाता है कि मृत्यु के समय अपने प्राण को शरीर के किसी द्वारा से निकालें । इस शरीर में अनगिनत छिद्र है ,पर इनमें नौ द्वार बड़े–बड़े हैं । दो कान, दो आँख दो नाक और एक मुख यह सात छिद्र ऊपर हैं और एक गुदा व एक लिंगेन्द्रिय, यह दो छिद्र नीचे हैं । साधारण मनुष्यों के प्राण इन्हीं नौ स्थानों से निकलते हैं । जिनका जीवन नीच कर्मों में व्यतीत हुआ, उनके प्राण मरने के समय गुदा या मूत्रेन्द्रिय से निकलते हैं और ऐसे प्राणी अधोयोनियों में

---

1. शतं चक्रा च हृदयस्य नाड्ययंस्तासां मूर्द्धा नर्भानिः सृतैका ।
तथोर्ध्व मायन्नभूतत्वेमति विष्वसडड.न्या उत्क्रमणो भयन्ति ।।

पड़कर नरक भोगते हैं और जो अच्छे कर्म करने वाले हैं, उनका प्राण ऊपर वाले छिद्रों से निकलता है और कर्मानुसार सुख–दुःख की योनि प्राप्त करते हैं । मृतक के देखने से यह मालूम हो जाता है कि इसका प्राण किस रास्ते से गया । जिस स्थान से प्राण अपने वेग से निकलता है, वह स्थान फट जाता है और फिर बन्द नहीं होता, इससे भी जाँच की जा सकती है । जैसे गुदा से निकलने पर मल क्षय हो जाएगा, मूत्रेन्द्रिय से निकलने पर मूत्र या वीर्य निकल पड़ेगा । मुख से निकलने परे मुख फटा रह जाएगा इत्यादि ।

इनके अतिरिक्त एक और भी द्वार है, जो दसवाँ द्वार कहलाता है । इसको ब्रह्मरन्ध्र कहते हैं, यह चोटी के स्थान में है और अति सूक्ष्म है । भारत के ऋषियों ने, योगियों ने, सन्तों ने और शास्त्रकारों ने इसको अनुभव से जान पाया है ।

मृत्यु के पश्चात् जीवात्मा की यात्राः–

जीवात्मा मन, प्राण, इन्द्रिय तथा सूक्ष्म तन्मात्राओं के साथ यात्रा करता है । जो मनुष्य मृत्यु पर्यन्त अनुचित कार्य, बुरी भावना, अहंकार, इच्छा, अनधिकृत अधिकार, अनधिकृत सम्पदा और अवांछित–अनैतिक क्रिया करता है और चोरी से, कौशल से, ठगी से, चतुराई से, धूर्तता से, मक्कारी से प्रपंच से, घूस से, धोखधड़ी से, अपनी विद्वता, शक्ति और सम्पन्नता के बल पर किसी की वस्तु, सामान, धन,

पदार्थ, वस्त्र, जमीन, सम्पत्ति को अनधिकृत रूप अपना बना लें, ऐसा करने में वह सफल अवश्य हो सकता है, परन्तु इसके फलस्वरूप मृत्यु के पश्चात् यमलोक में एक का दस–दस चुकाने को विवश होता है । मृत्यु के पश्चात् उसे पापात्मा को यम यातना भोगने के लिए यमदूत ले जाते हैं । उस पापी को प्रेत संज्ञा दी जाती है ।

गरूड़ पुराण के अनुसार रास्ते में वह पापी अत्यन्त दुःखी हो अपने पहले किये पापों को याद करता है । भूख–प्यास से अत्यन्त व्याकुल हो जाता है और ऊपर सूर्य की तीक्ष्ण किरणें पड़ती हैं, दावाग्नि जलाती है, मार्ग में अग्नि के समान गर्म बालू जहाँ–तहाँ पड़ी होती है, जिस पर नंगे पाँव चलने में अत्यन्त कष्ट पाता हुआ चलता है।[1] स्थूल शरीर से विलग हुआ जीव दस दिन तक अपने प्रिय एवं परिचित स्थानों में चक्कर लगाता रहता है । इन दस दिनों तक उसे भूत का आकार मिलता है । इस अवधि में उसके सूक्ष्म एवं लिंग शरीर को प्रतिदिन आकार मिलता रहता है तथा उसके प्रथम दिन मस्तक, दूसरे दिन ग्रीवा, तीसरे दिन हृदय, चौथे दिन पृष्ठाभाग, पाँचवे से नाभि, छठे से कटि और गुह्य सातवें से जंघा, आठवें से जानु, नवम से पांव और दसवें से क्षुधा और तृषा उत्पन्न होती है । इस प्रकार नौ दिन पर्यन्त होती है । इस प्रकार नौ दिन पर्यन्त पिण्ड दान करने से पिण्डज शरीर बनता है और दसवें दिन के पिण्डज दान से

1– क्षुत्तृट्रपरी तोऽर्कदवानलानिलै संतप्यमानः पथितप्तवालुनु ।
कृच्छ्रेण पृष्ठे कशया च ताडितश्चलत्यशक्तोपिनिराश्रज्ञमोढके ।।
(ग0 पु0 प्रे0 क0 अ01

उस पिण्डज शरीर में चलने की सामर्थ्य आती है ।[1]

उस जीव का मृत्यु देव यमराज की सभा को जाने का प्रयास आरम्भ करता है । यमराज के यहाँ पहुँचने में जीव को मरने के पश्चात एक वर्ष लग जाता है । यह मार्ग विघ्न–बाधा तथा कष्टों से आकीर्ण होता है, जो मनुष्य बहुत ही कुत्सित कर्म किये होता है, उसे बहुत ही कष्ट भोगने पड़ते हैं । परन्तु यदि मृत व्यक्ति के पुत्र इत्यादि स्वजन, उस वर्ष में उसके हेतु पिण्डदान तथा श्राद्धतर्पण की क्रिया करते हैं और पवित्र विद्वान–ब्रह्मणों को भोजन इत्यादि अर्पित करते हैं, तो उस जीवात्मा के कष्ट कुछ कम हो जाते हैं और उसकी मृत्यु यात्रा सरल हो जाती है । मृत व्यक्ति का पुत्र बिना रूदन के ही पिण्ड दान दे । जो जन्मा है, वह मरेगा अवश्य और जो मर गया है, उसका जन्म होना भी अवश्यम्भावी है । यह अपरिहार्य है । इसका कोई उपाय नहीं ।[2] अतः तुम्हें इसके लिये शोक नहीं करना चाहिए । बारहवें दिन पुत्र को सपिण्ड श्राद्ध कर्म अवश्य करना चाहिये । वर्ष पर्यन्त मासिक श्राद्ध करना चाहिये । पुत्र जो कुछ श्राद्ध तर्पण आदि की क्रिया करता है, उससे मृतात्मा को न्याय सभा में जाने के लिये मार्ग में पोषण मिलता है ।

1. प्रथमेऽहनि यः पिंडस्तेन मूर्धा प्रजायते ।
ग्रीवा स्कंधो द्वितीयेहिन तृतीयाद्धद्वयं ।।
चतुर्थेन भवेत्पृष्ठं पंचमान्नाभिरेव चा ।
षष्ठेन च कठि गुहां सप्तमात्सक्थिनीभवेत ।।
जानुपादौ तथापादौ तथाद्वाभ्यां दशमेऽन्हिक्षुधा तृषा ।।
— ग0पुप्र0क0अ0 1

2 जातस्य हि ध्रवो मृत्युर्ध्रुवं जन्म मृतस्य च ।
तसमादपरिहार्येऽर्थे न शोंक कारयेुधः ।।
— ग0पु0प्रे0क0अ0 11

मार्ग में उग्र गर्मी पड़ती है, उस जीव को बहुत ही ताप लगता है, परन्तु उसका पुत्र ग्यारहवें दिन जो छाते का दान करता है, उससे उसके सिर पर मधुर छाया होती है। वह मार्ग कष्टकाकीर्ण है, परन्तु जूते के दान के प्रतिफल से वह अश्वारोही बन आगे बढ़ता है । वहाँ पर शीत, उष्णता तथा वात का भयावह क्लेश होता है, परतु वस्त्र दान की सहायता से वह मृत, आत्मा सुखपूर्वक अपने मार्ग पर चलता है । वहाँ भीषण गर्मी पडती है और जल भी अप्राप्य है, परन्तु मृत व्यक्ति के पुत्र ने जो जल पात्र दान किया था, तृषित होने पर वह जीव उस दान की सहायता से जलपान करता है । पुत्र को उसी भाँति गोदान भी करना चाहिए।

यमलोक का मार्ग :–

नीच और अधर्म कोटि के पापियों के सम्मुख विकराल रूप धारण किये हुये यम के दो दूत आ धमकते हैं और पापी जीवात्मा को यमपाश में बांध लेते हैं । उनके भय से त्रस्त हो उसका मूत्र निकल पड़ता है । यम मार्ग का कष्ट भोगने के लिए उसे एक विशेष शरीर यातना देह मिलता है । यमदूत उसे रस्सियों से जकड कर सुदूर पथ से यमपुरी की ओर ले चलते हैं ।

इस मार्ग में वृक्ष की छाया नहीं होती है । न तो यहाँ आहार है और न जल ही। यहाँ नित्य द्वादश सूर्य तपते रहते हैं । पापी जीव जब इस मार्ग से चलता है, तो कहीं पर पथ शरीर शीत–वायु से बिंद्ध होता है, तो कहीं पथ के

कंटकों से विदीर्ण होता है । एक स्थान में वह अत्यन्त विषैले सर्पों और बिच्छुओं से दंशित होता है और किसी एक अन्य स्थान में वह अग्नि से जलता है ।

पापी जीव की पीठ पर कठोरता से आघात किये जाने पर जब वह अर्ध मुर्छित सा होकर गिरने लगता है, तब यमदूत उसे पुनः उठने के लिए विवश करते हैं और उसे यमराज के धाम की ओर घसीट कर ले जाते हैं, कहीं पर वह जोंको से भरे कीचड में, कहीं तप्त पथरीली भूमि में, कहीं पर पिघले हुए शीशे के तप्त रेत में और कहीं धधकते हुए अंगारों में चलता है, कहीं उस पर अंगारे बरसते हैं, तो कही पर शिला, वज्र, अस्त्र–शस्त्र अथवा खोलते हुए जल की उसके ऊपर वृष्टि होती है ।

मार्ग में रूधिर तथा पीव से परिपूर्ण अति भयावह वैतरणी नदी पड़ती है । इसे पार करना बहुत ही दुष्कर है । गोदान उस वैतरणी नदी को पार करने के लिए नौका के समान है ।

धर्मराज यम पापियों को समुचित दण्ड निर्धारित करते हैं और तब यम तदनुरूप नरक में ले जाकर यातना देते हैं ।

अपने जीवन काल में जो व्यक्ति पूण्यार्जन करते हैं, वे पुण्यात्मा जन दिव्य विमान में बैठ कर स्वर्ग के उद्यान में जा पहुँचते हैं, परन्तु पापी जन को उनके पापों के दण्ड स्वरूप कष्टक, शूल तथा झाड–झंकार से आकीर्ण पथ द्वारा जाना होता है और वे हिमशिलाओं तथा भू–विवरों को प्राप्त होते हैं । जिनके पाप और पुण्य प्रायः समान होते हैं, ऐसे मध्यम श्रेणी के व्यक्ति के यमपुरी जाने का मार्ग

स्वच्छ तथा सुन्दर होता है । इस पथ में कोमल और शीतल लता कुंज और जल प्रपात बने होते हैं ।

नरकों की विभिन्न गतियों का वर्णन :–

श्रीमद्भागवत् पुराण के कथनानुसार नरक के शासक यमराज है । चित्रगुप्त इनके सहायक हैं । नरक एक स्थान विशेष को कहते हैं । यह पृथ्वी के नीचे दक्षिण की ओर स्थित है । इसमें जीव अपने निषिद्ध कर्मों के परिणामों को भोगने के लिये जाते हैं । नरक अनेक प्रकार के हैं । मुख्य रूप में नरकों की संख्या इक्कीस की गयी है जिसका वर्णन इस प्रकार है :–

1. **तासिस्र नरक :** जो पुरूष दूसरो के धन, सन्तान अथवा स्त्रियों का अपहरण करता है, वह इस नरक में पडता है । कालपाश में बांधकर बलात अन्धकारमय नरक में गिरा दिये जाने से जीव को यहाँ असह्य वेदना होती है । यहाँ उसे अन्न जल नहीं मिलता। इससे मूर्छित होकर गिर पडता है ।[1]

2. **अन्ध–तामिस्र नरक :** जो पुरूष दूसरे को धोखा देकर उसकी स्त्री तथा अन्य सम्पत्ति को भोगता है, वह यातनाओं को भागने के लिये इस नरक में डाला जाता है । यहाँ अतीव पीडा के कारण जीव अपनी चेतना और सूझबूझ को खो बैठता है और जड से कटे वृक्ष की भाँति दुःखी होता है ।[2]

---

1. यत्र यस्तु परक्तिापत्यकलत्राण्यपहरति स हि कालपाशवद्धो
यमपुरूषैरतिभयानकैस्तामिस्रे नरके बलान्निपात्यते ।
– भा0पु0स्क0 पंचम अ0 26

२. एवमेवान्धतामिस्रे यस्तु वंचचित्वा पुरूषं दारदीनुपयुङ्कते यत्र
शरीरी निपात्यमानों यातनास्थो वेदनया नष्टमतिर्नष्टदृष्टिश्र ।
भवति यथा वनस्पतिर्वृश्च्यमानमूलस्तस्मादन्धतामिस्रं तमुपदिशन्ति ।
– भा0पु0स्क0 पंचम अ0 26

3. महारोरव नरक : जो लोग विषय भोग में लीन रहते हैं, उन्हें यहाँ माँसाहारी हिंसक पशु खाते हैं ।[1]

4. रोरव नरक : जो मनुष्य यह शरीर मैं हूँ और संसार की सम्पत्ति मेरी है– ऐसा सोचते हैं, वे रोरव नरक में पडते हैं । जो इस लोक में प्राणियों को कष्ट में पहुँचाते हैं, वे इस भयावह रोरव लोक में रूरू नामक विषैले जीव से पीडित होते हैं ।[2]

5. कुम्भीपाक नरक : जो कूर, निर्दयी पुरूष जीवित पशु अथवा पक्षियों को पकाता और खाता है, उसे भयंकर यमदूत कुम्भीपाक नरक में ले जाकर खौलते हुए तेल में उबालते हैं ।[3]

6. कालसूत्र नरक : जो मनुष्य धर्मात्मा, ब्रह्मण और माता–पिता की अवज्ञा करता है वह कालसूत्र नरक में डाला जाता है । वह एक ऐसे तप्त ताँबें के तवे के ऊपर रखा जाता है जिसको घेरा चालीस हजार मील है और ऊपर से सूर्य और नीचे से अग्नि के दाह से झुलसता रहता है।

1. एवमेव महारोरव यत्र निपतितं पुरूष कत्यादानाम रूखस्तं
क्रव्येण धातयन्ति यः केवलं देहम्भरः ।
– भा0पु0स्क0 पंचम अ0 26

2. ये त्विह यथैवामुना विहिंसिता जन्तवः परत्र
यमयातनामुपगतं त एव रूखो भूत्वा तथा तमेव विहिंसन्ति
तस्माद्रौरवमित्याहू रूरूरिति सर्पादतिकूरसत्वस्यापदेशः ।
– भा0पु0स्क0 पंचम अ0 26

3. यस्त्विह वा उग्रः पशून् पक्षिणों वा प्राणत उपरूधयति
तमपकरूणं पुरूषादैरपि विगर्हितममुत्र यमानुचराः कुम्भीपाके तप्ततैले उपरन्धयत्ति
– भा0पु0स्क0 पंचम अ0 26

यहाँ भूख–प्यास से व्याकुल हो व अकथनीय कष्ट झेलता है ।[1]

7 **असिपत्रवन नरक** : इस नरक के वन के वृक्षों की पत्तियाँ तलवार के समान पैनी होती है । जीव को इस वन से भगाया जाता है और पशुओं की तरह आहत किया जाता है । जो वैदिक धर्म को छोड़ कर पाखण्डपूर्ण धर्मों का आश्रय लेता है । उसे इस नरक में डाला जाता है । वह इधर–उधर भागता है जिससे उसके अंग तलवार के समान तीक्ष्ण पत्तों से क्षत–विक्षत होने लगते हैं ।

8. **सूकर मुख नरक** : जो राजा किसी निरपराध मनुष्य को दण्ड देता है अथवा ब्राह्मण को शरीर दण्ड देता है वह इसी नरक में गिराया जाता है । वहाँ उस पापी को कोल्हू के पेरे जाते हुए गन्ने के समान कुचलते हैं । वह आर्तस्वर में चिल्लाता है, किन्तु उसकी कोई सहायता नहीं करता है ।[2]

9. **अन्धकूप नरक** : जो पुरुष समाज में सम्मानजनक पद पा कर दूसरे व्यक्तियों को उत्पीड़ित करता है, वह अन्धकूप नरक में पड़ता है ।[3] वहाँ अनेक प्रकारके भयंकर पशु,सर्प आदि उस जीव को अन्धकार में चारों ओर से काटते हैं।

---

1. यस्त्विह पितृविप्रब्रह्मध्रुक स कालसूत्रसंज्ञके नरके अयुतयोजनपरिमण्डले ताम्रमये तप्तखले उपर्यधस्तादग्न्य र्कभ्यामतिप्यिमानेऽभिनिवेशितः ।
   – भा0पु0स्क0 पंचम अ0 26
2. यस्त्विह वै निजवेदपथादनापद्यपगतः पाखण्ड चोपगतस्तमसिपत्रवनं प्रवेश्य ।
   – भा0पु0स्क0 पंचम अ0 26
3. यस्त्विह वै राजा राजपुरूषों वा अदण्डये दण्डं प्रणयति ब्राह्मणे वा शरीरदण्डं स पापीयान्नरकेऽमुत्र सूकरमुखे निपतति ।
   – भा0पु0स्क0 पंचम अ0 26
4. यस्त्विह वै भूतानामीश्वरोपकल्पितवृत्तिर्विविक्तपरव्यथो व्यथामाचरति स परत्रान्धकूपे तरभिद्रोहेण निपतति ।।
   – भा0पु0स्क0 पंचम अ0 26

यहाँ उसे भविष्य में ऐसे कुत्सित कर्म न करने की शिक्षा मिल जाती है ।

10. कृमिभोजन नरक : जो द्विजाति पंचमहायज्ञ का नित्य अनुष्ठान नहीं करता, जो कुछ मिले उसे बिना दूसरों को दिये स्वयं ही उपभोग करता है । उसे कौआ ही कहना चाहिये । वह इस नरक में पडता है जहाँ वह कीडों को खाता है । वह कीड़ों के एक बहुत बडे कुण्ड में गिरता है[1] और वे कीड़े जीव को चारों ओर से तंग करते हैं ।

11. सन्दशं नरक : जो व्यक्ति ब्राह्मण अथवा निर्धन का धन अपहरण करता है और इस भाँति अकारण ही उसे कष्ट पहुँचाता है वह इसी नरक में डाला जाता है वहाँ उसे तपायी हुई सँडासी से नोचते हैं और धधकते हुये लोहे के गोलों से उसे मारते हैं ।[2]

12. तप्तसूर्मि नरक : जो मनुष्य अथवा स्त्री अपने आश्रित निरपराध सेवकों और श्रमिकों को दयनीय अवस्था पर दया नहीं करता है और न उनकी सहायता करता है । वहाँ वह बडी क्रूरता से पीटा जाता है तथा उसे तपायी हुई प्रतिमा से आलिग्न कराते हैं जो परायी स्त्री या पुरुष से व्यभिचार करता है, उसे भी यही दण्ड दिया जाता है ।[3]

1. यस्त्विह वा असंविभज्याश्नाति यत्किश्चनोपनतमनिर्मितपंचयज्ञो वायससंस्तुतः स परत्र कृमिभोजने नरकाधमें निपतति ।
— भा0पु0स्क0 पंचम अ0 26

2. यस्त्विह व स्तेयेन बलाद्वा हिरण्यरतादीनि ब्राह्णस्य वापहरत्यन्यस्य वानापदि पुरूषस्तममुत्र राजन् यमपुरुषा अयमयैरगिंपिण्डैः सन्दंशैस्त्वचि निष्कृषन्ति ।।
— भा0पु0स्क0 पंचम अ0 26

3 यस्त्विह वा अगम्यां स्त्रियमगम्यं वा पुरूष योषिदभिगच्छति तावमुत्र कशया ताडयन्तस्तिग्मया सूर्म्या लाहमय्या । पुरूषमालिगंयन्ति स्त्रियं च पुरुषरूप्या सूर्म्या ।
— भा0पु0स्क0 पंचम अ0 26

13. **वज्रकण्टकशाल्मली नरक** : जो पुरूष काम के वश होकर पशु आदि सभी प्राणियों के साथ व्यभिचार करता है, उसे वज्रकण्टकशाल्मली नरक में डाला जाता है । उसे उस नरक प्रदेश में घसीटते हैं ।[1]

14. **वैतरणी नदी नरक** : जो राजा या राजपुरूष मर्यादा का अतिक्रमण करता है, वह मरने पर वैतरणी नदी में पडता है ।[2] वहाँ गिरने पर जल के जीव उसे काटते हैं, किन्तु उसका शरीर नहीं छूटता । पाप कर्म के कारण प्राण उसे वहन किये रहते हैं । यह नदी मल, मूत्र,पीव, रक्त, केश, नख, हड्डी, चर्बी, माँस, मज्जा आदि से भरी हुई है ।

15. **पूयोद नरक** : जो मनुष्य श्रेष्ठ कुल में जन्म लेकर शूद्रा स्त्री पशुवत् जीवन व्यतीत करता है, वह मरने के पश्चात पीब, विष्ठ, मूत्र, कफ से भरे हुए इस नरक में पड़ता है और उन अत्यन्त घृणित वस्तुओं को ही खाता है ।[3]

---

1. यस्त्विह वै सर्वाभिगमस्तममुत्र निरये वर्तमानं
वज्रकण्टकशाल्मलीमारोप्य निष्कर्षन्ति ।।
— भा0पु0स्क0 पंचम अ0 26

2 ये त्विह वै राजन्या राजपुरूषा वा अपाखण्डा धर्मसूतेन!
भिन्दन्ति ते सम्परेत्य वैतरण्यां निपतन्ति ।
— भा0पु0स्क0 पंचम अ0 26

3. ये त्विह वै वृषलीपतयो नष्टशौचाचारनियमस्त्यक्तलज्जाः
पशुचयां चरन्ति ते चापि प्रेत्य पूयविष्मूत्रश्लेष्ममलापूर्णावते
निपतन्ति तदेवातिवीभत्सितभश्नन्ति ।
— भा0पु0स्क0 पंचम अ0 26

16. प्राणरोध नरक : जो ब्राह्मण और अन्य वर्ण कुत्ते या गधे पालते हैं और शास्त्रों की मर्यादा का उच्छेद कर पशुओं का आखेट कर आमोद मनाते हैं, वे मरने के बाद इस नरक में पड़ते हैं । यमदूत उन्हें वाणों का लक्ष्य बनाकर बींधते हैं ।[1]

17. विशसन नरक : जो व्यक्ति क्रूरता से पशुओं का बध करते हैं, वह इसी नरक में पशुओं की तरह जन्म लेता है । वहाँ उनके साथ भी वैसा ही व्यवहार किया जाता है ।[2]

18. लालाभक्ष नदी नरक : जो द्विज कामातुर होकर अपनी सवर्णा पत्नी को वीर्यपान कराता है, उस पापी को लालाभक्ष नामक वीर्य नदी में डाल कर वीर्य पिलाया जाता है ।[3]

19. सारमेयादन नरक : जो मनुष्य, राजा अथवा राजपुरूष किसी के घर में आग लगाता है, किसी को विष देता है अथवा गाँव या व्यापारियों की टोलियों को लूटता है, मरने के पश्चात वह इस नरक में पड़ता है वहाँ भयंकर दांत वाले सात सौ बीस कुत्ते उसे वेग से काटते हैं ।

---

1. ये त्विह वै श्वगर्दभपतयो ब्राह्मणादयों मृगयाविहारा अतीर्थे ।
च मृगानिध्नन्ति तानपि सम्परेतॉल्लख्यभूतान
यमपुरूषा इषुर्भिर्विध्यन्ति ।।
— भा0पु0स्क0 पंचम अ0 26

2. ये त्विह वै दाम्भिका दम्भयज्ञेषु पशून् विशसन्ति
तानमुष्मिॅल्लोके वैशसे नरके पतितान्निरयपतयों
यातयित्वा विशसन्ति ।
— भा0पु0स्क0 पंचम अ0 26

3. येस्त्विह वै सवर्णा भार्या द्विजो रेतः पाययति काममोहितस्तं
पापकृतममुत्र रेतः कुल्यायां पातयित्वा रेतः सम्पाययन्ति ।
— भा0पु0स्क0 पंचम अ0 26

20. अवीचिमान नरक : जो व्यक्ति किसी की गवाही देने में अथवा दान के समय झूठ बोलता है, वह इन नरक में पडता है । यहाँ खडे होने के लिये कोई आधार नहीं है । वहाँ जीव को चार सौ मील ऊँचे पर्वत–शिखर से सिर के बल धकेला जाता है ।[1] इस नरक में कठोर पत्थर की भूमि भी जल के समान जान पडती है । इस भाँति जीव और भी भ्रम में पडता है। यद्यपि उसके शरीर के टुकड़े–टुकड़े हो जाते हैं, फिर भी प्राण नहीं निकलते । उसे बार–बार ऊपर ले जाकर पटका जाता है ।

21. अयःपान नरक : जो ब्राह्मण मद्यःपान करता है अथवा अविहित भोजन करता है, उसे इस नरक में गलाया हुआ लोहा पान करना पड़ता है । जो वर्णाश्रम धर्म का उल्लंघन करता है, उसे यहाँ उचित दण्ड दिया जाता है ।[2]

इस पुराण में भी प्रमुख रूप से इक्कीस नरकों का वर्णन इसी प्रकार किया गया है । विष्णु पुराण में भी विभिन्न नरकों का वर्णन मिलता है –

---

1. यस्त्विह वा अनृतं वदति साक्ष्ये द्रव्यविनिमये दाने
वा कथचिंत्स वै प्रेत्य नरकेऽवीचिमत्यधः शिरा निरवाकाशे ।
– भा0पु0स्क0 पंचम अ0 26

2. यस्त्विह वै विप्रो राजन्यो वैश्यो वा सोमपीथस्त्कलत्रं
वा सुरां व्रतस्थोऽपि वा पिबति प्रमादतस्तेषां निरयं
नीतानामुरसि पदाऽऽक्रम्यास्ये वह्निना द्रवमाणं
कार्ष्णायसं निषिचंन्ति । – भा0पु0स्क0 पंचम अ0 26

1. रौरव नरक : जो पुरूष झूठी गवाही या जान कर भी न बतलाने वाला या कुछ का कुछ कहने वाला होता है अथवा पक्षपात के कारण यथार्थ नहीं बोलता और जो मिथ्या–भाषण करता है, वह इस नरक में गिरता है ।[1]

2. रोध नरक : जो मनुष्य भ्रूण नष्ट करने वाला, ग्रामनाशक और गौ हत्यारा हो वह इस रोध नरक में जाता है ।[2]

3. सूकर नरक : मद्यपान करने वाला, ब्रह्मघाती, सुवर्ण चुराने वाला तथा जो इनका संग करता है वे सभी इसी नरक के अधिकारी होते हैं ।[3]

4. ताल नरक : क्षत्रिय और वैश्य का वध करने वाला ताल नामक नरक में जाता है ।

5. तप्तकुण्ड नरक : गुरूस्त्री के साथ गमन करने वाला, भगिनीगामी और राजदूतों को मारने वाला पुरूष तप्तकुण्ड नरक में पड़ता है ।[4]

---

1. कूटसाक्षी तथाऽसम्यक्पक्षपातेन यो वदेत् ।
यश्चान्यदनृतं वक्ति स नरो याति रौरवम् ।।
— वि0पु0अं0 2, अ0 6

2. भ्रूणहा पुरहन्ता च गोधन्श्र मुनिसत्तम् ।
यांति ते नरकं रोधं यश्रो छावनिरोधकः ।।
— वि0पु0अं0 2, अ0 6

3. सुरापो ब्रह्महा हर्ता सुवर्णस्य च सूकरे ।
प्रयान्ति नरके यश्र तैः संसर्गमुपैति वै ।
— वि0पु0अं0 2, अ0 6

4. राजन्यवैश्यहा ताले तथैव गुरूतल्पगः ।
तप्तकुण्डे स्वसृगाती हन्ति राजभाटंश्र यः ।
— वि0पु0अं0 2, अ0 6

6. तप्तलोह नरक : सतीस्त्री को बेचने वाला, अश्व विक्रेता और भक्त पुरूष का त्याग करने वाला, यें सब लोग तप्तलोह नरक में गिरते हैं ।[1]

7. महाज्वाल नरक : पुत्रवधू और पुत्री के साथ बिषय करने वाला पुरूष इस नरक में गिराया जाता है ।

8. लवण नरक : जो नराधम गुरूजनों का अपमान करने वाला दुर्वचन बोलने वाला होता है तथा जो वेद की निन्दा करने वाला, वेद बेचने वाला या अगम्या स्त्री से सम्भोग करता है । वे सब लवण नरक में जाते हैं ।[2]

9. विलोहित नरक : चोर तथा मर्यादा का उल्लंघन करने वाला पुरूष इस नरक में पडता है ।[3]

10. लालाभक्ष नरक : जो मनुष्य पितृगण, देवगण और अतिथियों को छोड़कर उनसे पहले भोजन कर लेता है, वह अति उग्र इस नरक में पड़ता है ।[4]

11. विशसन नरक : जो मनुष्य कर्णी नामक बाण बनाते हैं और खडगादि शस्त्र बनाने वाले इस नरक में गिरते हैं ।

---

1. साध्वीविक्रयकृद्वन्धपालः केसरिविक्रयी ।
तप्तलोहे पतन्त्येते यश्च भक्तं परित्यजेत् ।।
— वि0पु0अं0 2, अ0 6

2. स्नुषां सुतां चापि गत्वा महाज्वाले निपात्यते ।
अवमन्ता गुरूणां यो यश्चाक्रोष्टा नराधमः ।।
वेददूषयिता यश्च वेदविक्रष्किश्च यः ।
अगम्यगार्मीचश्चस्यात्ते यान्ति लवणं द्विज ।।
— वि0पु0अं0 2, अ0 6

3. चोरों विलोहे पतति मर्यादादूषकस्तथा ।
— वि0पु0अं0 2, अ0 6

4. पितृदगतिर्थीस्त्यक्त्वा पर्यश्नाति नराधमः ।
लालाभक्षे स यात्युग्रे शरकर्त्ता च वेधके ।।
— वि0पु0अं0 2, अ0 6

12. **अधोमुख नरक** : दूषित उपायों से धन–संग्रह करने वाला अजाज्य याचक नक्षत्र विद्या को न जानकर उसके जानने का ढोंग करने वाला अधोमुख नरक में जाता है ।[1]

13. **पूयवह नरक** : निष्ठुर कर्म करने वाला, अकेले ही स्वादिष्ट भोजन करने वाला और लाख, माँस, रस, तिल तथा लवण आदि बेचने वाला ब्राह्मण इसी नरक में गिरता है ।[2]

14. **रूधिरान्ध नरक** : नट वृति से रहने वाला, विष देने वाला, चुगलखोर, स्त्री की असद्वृति के आश्रय रहने वाला, धन आदि के लोभ से बिना पर्व के अमावस्या आदि पर्व दिनों का कार्य कराने वाला द्विज, घर में आग लगाने वाला, मित्र की हत्या करने वाला तथा सोम बेचने वाला इस रूधिरान्ध नरक में गिरता है ।[3]

15. **वैतरणी नरक** : यज्ञ और ग्राम को नष्ट करने वाला पुरूष वैतरणीनदी में जाता है ।[4]

---

1. असत्प्रतिगृहीता तु नरके यात्यधोमुखे ।
   अयात्ययाजकश्चैव तथा नक्षत्रसूचकः ।।
   — वि०पु०अं० 2, अ० 6
2. वेगी पूयवहे चैको याति मिष्टान्नभुड्नरः ।
   — वि०पु०अं० 2, अ० 6
3. आगारदाही मित्रघन शाकुनिर्ग्रामयाजकः ।
   रूधिरान्धे पतन्त्येते सोमं विक्रीणते च ये ।।
   — वि०पु०अं० 2, अ० 6
4. मखहा ग्रामहन्ता च याति वैतरणीं नरः ।
   — वि०पु०अं० 2, अ० 6

16. कृष्ण नरक : जो लोग वीर्यपातादि करने वाले, खेतों की बाढ़ तोड़ने वाले, अपवित्र और छलवृति के आश्रय रहने वाले होते हैं, वे कृष्ण नरक में गिरते हैं।

17. असिपत्रवन नरक : जो व्यर्थ ही वनों को काटता है, वह इस नरक में जाता है ।[1]

18. कृमिभक्ष नरक : देव, द्विज और पितृगण से द्वेष करने वाला कृमिभक्ष नरक में गिरता है ।

19. वहिन्ज्वाल नरक : जो कच्चे घडों अथवा ईंटों आदि को पकाने के लिए उनमें अग्नि डालते हैं वे भी इस अग्नि में जलते हैं ।[2]

20. सन्दशं नरक : व्रतों का लोप करने वाले तथा अपने आश्रम से पतित दोनों इस नरक में डाले जाते है।[3]

21. श्वभोजन नरक : जिन ब्रह्मचारियों का दिन में तथा सोते समय बुरी भावना से वीर्यपात हो जाता है, वे लोग इस नरक में गिरते हैं ।[4]

---

1. असिपत्रवनं याति क्नच्छेदी वृथैव यः ।
औरभ्रिको मृगव्याधो वहिनज्वाले पतन्ति वै ।।
— विoपुoअंo 2, अo 6

2. यान्त्येते द्विज तत्रैव ये चापाकेषु वहिन्दाः ।।
— विoपुoअंo 2, अo 6

3. व्रतानां लोपको यश्चस्वाश्रमद्विच्युश्च यः ।
सन्दंशयातनामध्ये पततस्तावुभावपि ।।
— विoपुoअंo 2, अo 6

4. दिवा स्वप्ने च स्कन्दन्ते ये नरा ब्रह्मचारिणः ।
पुत्रैरध्यापिता ये च ते पतन्ति भोजने ।।
— विoपुoअंo 2, अo 6

देवीभागवत् पुराण के अनुसार मनुष्य अशुभ कर्मों से नरक को प्राप्त होता है । नरक में विभिन्न प्रकार के बड़े–बड़े कुण्ड हैं । कर्म भेद से पापियों को दुःख भोग कराना इन कुण्डों का उद्‌देश्य है । ये कुण्ड अत्यन्त भयंकर और कुत्सित हैं। प्रमुख नरक कुण्डों का वर्णन इस प्रकार है –

1. **अग्नि कुण्ड** : जो बल के अभिमान से गर्वित हुआ व्यक्ति अपने बान्धवों को कडवे वचनों से दुःखित करता है, वह इस नरक में पड़ता है ।[1] उसकी देह में जितने रोम है, वह उतने ही वर्ष उस अग्नि कुण्ड में निवास करके तीन योनियों तक पशु होता है ।

2. **तप्त कुण्ड** : जो घर पर आये अतिथि ब्राह्मण को भोजन नहीं कराता, वह मूर्ख तप्त कुण्ड नरक में पडता है ।[2] अपने देह के रोमों की संख्या के बराबर वर्षों तक नरक वासना दुःख पाने के बाद सात योनियों तक पक्षी होता है ।

3. **क्षार कुण्ड** : जो व्यक्ति रविवार, संक्रान्ति, अमावस्या और श्राद्ध के दिन क्षर पदार्थों से वस्त्रों को धोने से मनुष्य क्षारकुण्ड नरक में गिरता है ।[3] और वह वस्त्र के सूत की संख्या के बराबर वर्षें तक नरक वास करके सात जन्म तक धोबी होते हैं ।

---

1. कटुवाचा वांधवांश्च बललेपेन यो नरः ।
दग्धानकरोति बलावान्वहिन्कुण्डं प्रयाति सः ।।
– देoभाoपुo ख02, अo 37

2. ब्राह्मण तृषित तप्तं क्षुधितं ग्रहमागतम् ।
न भोजयति यो मूदस्तप्तकुंडं प्रयाति सः ।।
– देoभाoपुo ख02, अo 37

3. स याति क्षारकुण्ड च सूक्षमानब्दमेव च ।
स व्रजेद्रंजकीं योनि सप्तजन्मसु ।।
– देoभाoपुo ख02, अo 37

4. विट् कुण्ड : अपने द्वारा दी हुई या किसी अन्य के द्वारा दी हुई देवताओं या ब्राह्मणें की वृति को छीनने वाले को विट् कुण्ड नरक में जाना होता है।[1] वहाँ वह साठ हजार वर्ष तक विष्ठाभोजी रह कर फिर कृमि के रूप में उत्पन्न होता है ।

5. गर कुण्ड : जो अपने माता–पिता, गुरू, पुत्र–पुत्री आदि का भरण पोषण नहीं करता, वह इस नरक में पडता है ।[2] यहाँ सौ वर्ष तक विष का भोजन करता और फिर सौ वर्ष के लिये भूत योनि को प्राप्त होने के उपरान्त शुद्ध होता है।

6. दूषिका कुण्ड : अतिथि को कोध भरे नेत्रों से देखने वाले पापी का दिया हुआ जल भी पितर या देवता ग्रहण नहीं करते । ब्रह्म–हत्या करने वाला भी इसी नरक में पड़ता है ।[3] वहॉ वे दूषित पदार्थों का भोजन करते हुये सौ वर्ष रह कर भूत योनि प्राप्त कर शुद्ध होते हैं ।

---

1. स्वदत्तां परदन्तां या वृति च सुविप्रयोः ।
   प्रद्विवर्ष सहस्राणि विट्कुडं च प्रयासि सः ।।
   – देoभाoपुo ख02, अo 37

2. पितरं मातरं चैव गुरूं भार्या सुत सुताम ।
   यो न पुष्णातयनाथं च गरकुण्ड प्रयासि सः ।।
   – देoभाoपुo ख02, अo 37

3. यानि कानि च पापिन ब्रह्महत्यादिकानि च ।
   इहेव लभते चांते दूषिकाकुण्डमाब्रजेत ।।
   – देoभाoपुo ख02, अo 37

[illegible]

[illegible]
[illegible]
[illegible]

[illegible]
[illegible]
[illegible]

[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]

7. शुक्र कुण्ड : जो स्त्री पर पुरूष से अथवा पुरूष पर स्त्री से व्यभिचार करते हैं, वे शुक्र कुण्ड में गिरते हैं ।[1] वहाँ सौ वर्षों तक शुक्रभोजी रहकर सौ वर्ष बाद योनि भोग कर शुद्ध होते हैं ।

8. असृक कुण्ड : गुरू, ब्राह्मण को ताडन कर रक्त निकालने वाला पापी असृक कुण्ड में पडकर सौ वर्ष तक रक्त पीने और सात योनियों तक बाघ होकर शुद्ध होने के बाद उन्हें मानव योनि प्राप्त होती है ।[2]

9. मज्जा कुण्ड : जो अपने भरण–पोषण के लिये लोभवश जीवों की हिंसा करते हैं, वह मज्जा कुण्ड में एक लाख वर्ष तक मज्जा का भोजन करते हुये फिर खरगोश का जन्म पाकर सात बार मछली, तीन बार सुअर और सात बार मुर्गा का जन्म धारण करते हैं । फिर कर्मानुसार मुर्गादि की योनियों में भ्रमण करने के बाद शुद्ध होते हैं ।[3]

---

1. पुर्मांसं कामिनी वापि कामिनी वा पुमानाथ ।
यः शुक्र पापयत्येव शुक्रकुण्ड प्रयासि सः ।।
— देoभoपुo खo2, अo 37

2. संताडय च गुरू विप्रं रक्तपात च कारयेत् ।
स च तिष्ठत्यसृत्यक्कुण्डे तद्भोजो शतसम्वतसरम् ।।
— देoभoपुo खo2, अo 37

3. लाभात्स्वभरणार्थाय जीवितं हंति यो नरः ।
मज्जाकुण्डे वसेत्वीऽपि तद्भोजी लक्षवस्सरम् ।।
— देoभoपुo खo2, अo 37

10. मांस कुण्ड : जो मनुष्य अपनी पालित–पोषित कन्या का विक्रय करता है, वह मांस कुण्ड नरक में गिर कर कन्या के रोम संख्या बराबर वर्षों तक कन्या का माँस भोजन करता है ।[1]

11. बीज कुण्ड : जो व्यक्ति स्वर्ण या तॉबे की चोरी करते हैं, वे इस नरक में गिरते हैं । वहाँ बीज और विष्ठाभोजी रहते हुए उसे बीज कीट नयनों पर काटते हैं और यमदूत मारते हैं तब वह शुद्ध होता है ।

12. पाषाण कुण्ड : देवता या ब्राह्मण के गव्य पदार्थों वस्त्र और चॉदी की चोरी करने वालों को तप्त पाषाण कुण्ड गिराना होता है ।[2]

इसके अतिरिक्त गम्रत्र कुण्ड, मल कुण्ड, कर्ण वित् कुण्ड, लोम कुण्ड, अस्थि कुण्ड, केश कुण्ड, ताम्र कुण्ड, लोह कुण्ड, सर्प कुण्ड, मशकुण्ड, शूल खड्ग युक्त कुण्डों का वर्णन मिलता है ।[3]

---

1. अर्थलोभान्महामूढो मांसकुण्डं प्रयाति सः ।
   कन्यालोमप्रमाणन्दं तदभोजी तत्र तिष्ठति ।।
   — देoभoपुo खo2, अo 37

2. यो भारते देवचोरश्च देवद्रव्यापदारकः ।
   स दुस्तरं वज्रकुण्डे स्वलोमाब्द वसेुदध्रुवम् ।।
   — देoभoपुo खo2, अo 37

3. रोव्यसगत्यांशुकानां च यश्चोरः सुविप्रयोः ।
   तप्तपाषाणकुण्डे च स्वलोममाब्द वसेदध्रुवम् ।।
   — देoभoपुo खo2, अo 37

वामन पुराण में सनत्कुमार के पूछने पर ब्रह्मा ने जिन नरकों का वर्णन किया हैं, वे इस प्रकार हैं –

1. परस्त्रीगमन, पापियों की संगति और सब प्राणियों के प्रति द्वेष भावना को प्रथम नरक कहा है ।[1]

2. फल की चोरी, व्यर्थ भ्रमण एवं वृक्षों का काटना महापाप द्वितीय नरक कहा गया है ।[2]

3. निषिद्ध वस्तुओं का ग्रहण, अबध्य प्राणियों का वध और बन्धन तथा अर्थ के लिये होने वाला विषाद दोषयुक्त तृतीय नरक है ।[3]

4. सभी प्राणियों को भय देना, संसार की विभूति का विनाशन तथा स्वधर्म का भ्रशंन चतुर्थ नरक है ।[4]

5. मित्र के साथ कुटिलता, मिथ्या शपथ तथा अकेले मिष्ठान का भक्षण पंचम नरक में जाता है ।[5]

---

1. परदाराभिगमन पापीयांसोपसेवनम् ।
पारूष्यं सर्वभूतानां प्रथमं नरक स्मृतम् ।।
– वा0पु0अ0 35

2. फलसतेयं महापापं फलहीनं तथाऽटनम् ।
छेदमं वृक्षजातीनां द्वितीय नरक स्मृतम् ।।
– वा0पु0अ0 35

3. वर्ज्यादानं तथा दुष्टमवध्यवधबन्धनम् ।
विवादमर्थहेतुत्थं तृतीय नरकं स्मृतम् ।।
– वा0पु0अ0 35

4. भयदंसर्वसत्तवानां भवभूमिविनाशनम् ।
भ्रशनं निजधर्मानां चतुर्थ नरकं स्मृतम् ।।
– वा0पु0अ0 35

5. मारणं मित्राकौटिलयं मिथ्यऽभिशपनं यत् ।
मिष्टैकाष्नमित्ययुक्तं पंचम तु नृपाचनम् ।।
– वा0पु0अ0 35

6. यन्त्र फलादि का हरण, किसी को बांधना योगनाश तथा किसी अप्राप्त की प्राप्ति विच्छेद तथा यान की हुए की चोरी को छठा नृपाचन नरक कहते हैं ।[1]

7. मूर्खनावश राजा के अंश को हरण करना, राज–पत्नी गमन तथा राज्य का अहित करना सप्तम नरक है ।[2]

8. लुब्धता, लोत्तुपता, प्राप्त धर्मयुक्त अर्थ का विनाश और लालामिश्रित वाणी को अष्टम नरक कहा है ।[3]

9. ब्राह्मण को देश से निकाल देना, ब्राह्मण का धन चुराना, ब्राह्मण की निन्दा करना और बन्धुओं से विरोध करने को नवम नरक कहा है ।[4]

10. शिष्टाचार का नाश, शिष्ट जनों से विद्वेष, शिुशु की हत्या, शास्त्र की चोरी तथा स्वधर्म के नाश को दशम नरक कहा है ।[5]

---

1. यन्त्रः फलादिहरणं यमनं योगनाशनम् ।
यानपुण्यस्य हरणं षष्ठमुक्तं नृपाचमम् ।।
— वा0पु0अ0 35

2. राजभागहरं मूढं राजजायानिषेवणम ।
राज्ये त्वहितकारित्वं सप्तमं निरयं स्मृतम् ।
— वा0पु0अ0 35

3. लुब्धत्वं लालुपत्वं च लब्धधर्मार्थनाशनम् ।
लालसंकीर्णमेवोक्तमष्टम नरकं स्मृतम् ।।
— वा0पु0अ0 35

4. विप्रोव्य ब्रह्महरणं ब्राह्मणानां विनिन्दनम् ।
विरोधं बन्धुभिश्चोक्तं नवम नरपाचनम् ।।
— वा0पु0अ0 35

5. शिष्टाचारविनाशं च शिष्टद्वेषं शिशोवर्धनम् ।
शासत्रस्तेयं धर्मनाशं दशम परिकीर्तितम् ।।
— वा0पु0अ0 35

[illegible]

11. छः अंगों वाली विद्या, वेद विद्या का विनाश एवं षाडगुण्य अर्थात् सन्धि विग्रह आदि राजगुणों के प्रतिवेध को ग्यारहवां नरक कहते हैं ।[1]

12. सज्जनों से सदा वैरभाव, अनाचार, असत्कार्य एवं संस्कार सहित बारहवां नरक कहा गया है ।[2]

13. धर्म, अर्थ, काम की हानि, मोक्ष का नाश एवं इनके समूह में विरोध उत्पन्न करने को तेहरवां नरक कहते हैं ।[3]

14. अज्ञान, असूया, अशुभकारी, अशौच एवं असत्य वचनों को चौदहवां नरक माना गया है ।[4]

15. कृपण, धर्महीन एवं आग लगाने वाले को पंद्ररहवां नरक कहा है ।[5]

16. आलस्य विशेष रूप कोध सभी के प्रति आततायित्व एवं ग्रह में आग लगाना सोलहवां नरक है ।[6]

---

1. षड्ंनिधनं घोरं षाडगुण्यप्रतिषेधनम् ।
एकादशमम्ेवोक्तं नरकं सद्धिरूत्तमम् ।।
— वा0पु0अ0 35

2. सत्सु नित्यं सदा वैरमनाचारमसत्क्रिया ।
संस्कार परिहीनत्वमिदं द्वादशं स्मृतम् ।
— वा0पु0अ0 35

3. हानिर्ध्मार्थकामनामवर्गस्य हारणम् ।
संभेद संविदामेतत त्रयोदशमुच्यते ।।
— वा0पु0अ0 35

4. कृपण धर्महीन च यद वर्ज्य यंच वह्निदम् ।
चतुदर्दशममेवोक्तं नरकं तद विगर्हितम् ।।
— वा0पु0अ0 35

5. अज्ञान चाप्यसूयत्वमशौचमशुभावहम् ।
स्मृतं तत पंचदशममसत्यवंचानि च ।।
— वा0पु0अ0 35

6. आलस्यं वै षोडशममाक्रोशं च विशेषतः ।
सर्वस्य चाततायित्वमावसेष्वग्निदीपनम ।।
— वा0पु0अ0 35

[illegible]

गरूड़ पुराण में चौरासी लाख नरक माने गये हैं । उनमें भयानक मुख्य–मुख्य इक्कीस नरक कहे हैं । उनके नाम इस प्रकार हैं –

1.	तामिस्र	11.	सविष
2.	लोहशंक	12.	संप्रतावन
3	महारौरव	13.	महानिरय
.4	शाल्मली	14.	काकोल
5.	रौरव	15.	संजीवन
6.	कुडूनल	16.	महापथ
7.	कालसूत्रक	17.	अवीचि
8.	पतिमृत्तिक	18.	अंधतामिस्र
9.	संघात	19.	कुम्भीपाक
10.	लोह्तिोद	20.	सप्रतापन
		21.	त्पन[1]

ये नरकों अत्यन्त पीड़ा देने वाले हैं नरकों द्वारा नारकीयों को नाना प्रकार के कार्मों का फल भोगना पड़ता है और अनेकों यमदूत उनको यातनाएँ देने के लिए अधिष्ठाता है ।[2] पापी धर्म रहित मूठ पड़कर कल्पों तक नरक की यातनाएं भोगते हैं । यममार्ग में जाते समय वैतरणी नदी आती है और उसे लाँघकर जाना पड़ता है इसमें महान घारे दुःख उठाना पड़ता है ।[3]

---

1. तामिस्रों लोहशंकुश्च मनारोरव शाल्मली ।
रोरवकुड्मलः कालसूत्रकः पतिमृत्तिक ।।
संघातोलोहितोदश्च सविषः संप्रतावन ।
महानिस्यकांकालौ संजीवन महापथौ ।।
अबीचिरधतामिस्रः कुभीपाकस्तथैक्चः । (ग0पु0पे0क0अ0–3)

2. नानापीडामयाः सर्वेनाना भेदैः प्रकल्पिता ।
नानापकपिाकाश्व किंकरौघैरधिष्ठताः।। (तदैव)

3. अस्मिन्नेव महादुःखे मार्गे वैतरणी नदी ।
तत्र ये पापिनों यांति तानहं कथयाः मिते ।। (ग0पु0पे0क0अ0–4)

[illegible]

[illegible]

[illegible] [illegible]
[illegible] [illegible]
[illegible] [illegible]
[illegible] [illegible]
[illegible] [illegible]
[illegible] [illegible]
[illegible] [illegible]
[illegible] [illegible] [illegible]
[illegible] [illegible] [illegible]
[illegible] [illegible] [illegible]

[illegible]

[illegible]

[illegible]

दो मार्ग—देवयान तथा पितृयान :—

मनुष्य दो मार्गों से मृत्यु के पश्चात् यात्रा करता है । एक जो देवयान मार्ग से जाते हैं जो पवित्रात्मा शुद्ध होता है, और दूसरे पितृयान मार्ग से जाते है, जो दुष्ठात्मा अशुद्ध होती हैं । जगत् के सभी मनुष्य इन दो मार्गों के पथिक हैं ।

गीता में इन दोनों मार्गों का वर्णन मिलता है कि यह शुक्ल (देवयान) और कृष्ण (पितृयान) गति इस जगत में शाश्वत् काल से चली आयी हैं ।[1] कुछ जीव शुक्ल (शुद्ध) मार्ग से जाते हैं कुछ जीव कृष्ण अशुद्ध मार्ग से जाते हैं । इनको पाप और पुण्य मार्ग भी कह सकते हैं । पुण्य मार्ग शुद्ध मार्ग है और पाप मार्ग अशुद्धतामय कृष्ण मार्ग हैं । पुण्य मार्ग के परामर्श से सिद्धि प्राप्त होती हैं और दूसरे अशुद्ध मार्ग से चक्कर में फँसना पड़ता है ।

शुभ समय में प्रयास करने से योगी लोग फिर लौटकर नहीं आते और अशुभ समय करने से पुनः लौटकर आते हैं । अग्नि, ज्योति, दिन, शुक्लपक्ष, उत्तरायण के छः महीने, इस समय में प्रयाण करने वाले ब्रह्मज्ञानी ब्रह्म को प्राप्त होते हैं ।[2] अतः शुक्ल पक्ष में रहकर प्रकाश के पवित्र मार्ग से जाने वाला (उत–तर अयन) उच्चतर गति को प्राप्त होता है ।

---

1. शुक्लकृष्णें गती ह्येते जगतः शाश्रते मते ।
(भ0गी0अ0—8)

2. अग्निर्ज्योतिरहः शुक्लः षण्मासा उत्तराणम्
तत्र प्रयाता गच्छन्ति ब्रह्म ब्रह्मविदो जनाः ।। (भ0गी0अ0—8)

[illegible]

[illegible]

[illegible]

[illegible]

[illegible]

[illegible]

[illegible]

[illegible]

[illegible]

[illegible]

[illegible]

[illegible]

[illegible]

[illegible]

धूम, रात्रि, कृष्णपक्ष, दक्षिणायन इस समय मं जाने वाले कर्मयोगी चन्द्रमा की ज्योति को प्राप्त होकर लौटकर आते हैं ।[1] जगत् के ये शुक्ल और कृष्ण नामक मार्ग सनातन है । एक से लौटकर नहीं आना पड़ता और दूसरे से पुनः लौटकर आना ही पड़ता है ।

वृहद्‌रण्यक उपनिषद में भी दोनों मार्गो का वर्णन बड़ा सुन्दर मिलता है । जो श्रद्धा और सत्य की उपासना करते हैं, वे प्रकाश को प्राप्त होते हैं । प्रकाश से दिन, दिन से पूर्ण पक्ष, पूर्ण पक्ष से उत्तर दिशा में सूर्य जाने वाले छः मासों को उत्तरायण से संवत्सर को (देवलोक को), संवत्सर से आदित्य को, आदित्य से चन्द्रमा को, चन्द्रमा से विद्युत को प्राप्त होते हैं । उससे भी आगे मानस पुरूष के साथ चलते हुए ब्रह्मलोक को प्राप्त होते हैं । वहाँ वे अनन्त समय तक रहते हैं । वहाँ से पुर्नजन्म नहीं होता ।[2]

अब दूसरा मार्ग यह है जो यज्ञ से अनेक लोकों को जीतते हैं, वे धूम को प्राप्त होते हैं, धूम से रात्रि, रात्रि से क्षयपक्ष, उससे सूर्य दक्षिण दिशा में जाने वाले छः महीने को, दक्षिण से पितृलोक, पितृलोक से चन्द्रलोक को प्राप्त होकर अन्नरूप बनते हें । देव व अन्न भक्षण करते हैं ।

---

1. धूमे रात्रिस्तथा कृष्णः पष्मासा दक्षिणायनम् ।
तत्र चान्द्रमसं ज्योतिर्योगी प्राथनिवर्तते ।
(भ0गी0अ0–8)

2. ये......श्रदां सतयमुपासते ते अर्चिरभिसंभवन्ति, अर्चिषों अहः अध्म आपूर्यमाणपक्षं आपूर्यमाणपक्षात् यान् षण्मासानुदड़्ादिव्य एति, मासेभ्यों देवलोक, देवलोकादादित्यं, आदित्याद्वैद्युतं, तान्वैद्युतान् पुरूषों मानस एत्य ब्रह्मलोकान् गमयति तेषु ब्रह्मलोकान् गमयति तेषु ब्रह्मलोकेषु पराः परावतो वसन्ति तेषां न पुनरावृति।
(बृ0उप0–6/2)

वहाँ से आकाश, वायु, वृष्टि, पृथ्वी को प्राप्त होकर अन्न द्वारा पुरूष में, पश्चात् वीर्यरूप से स्त्री से प्रविष्ट होकर मानव जन्म को प्राप्त होते हैं ।[1] इस तरह से काम, कर्म करने वाले सृष्टि के चक्र में भ्रमण करते रहते हैं । इन दोनों मार्गों को जो नहीं जानते, वे कृमि कीट बनते हैं । छान्दोग्य उपनिषद में भी ये ही वचन कुछ भेद के साथ आये हैं। इस प्रकार इन दोनों उपनिषदों में मरणोत्तर मार्ग का वर्णन है । इसका स्पष्ट बोध करने के लिए कोष्ठक रूप में देते है।

---

1. ये यज्ञेन...........लोकान्जयन्ति ते धूममभि संभवन्ति, धूमाद्रात्रि रात्रेरपक्षीयमाणपक्षं,अपीक्षमाणपक्षाद्यान,षण्मासान्दक्षिणवादित्य इति, मासेभ्यः पितृलोकं, पितृलोकाच्चन्द्रं ते चन्द्र प्राप्य अन्नं भवन्ति, तांस्तदेवा भक्षयन्ति......... आकाद्वायुं, वार्योवृष्टिं वृष्टेः पृथ्वी, पृथ्वी प्राप्य अन्नं भवन्ति।

बृहदारण्यक उपनिषद् के अनुसार

देवयान मार्ग (आर्चिरादिमार्ग)

9. ब्रह्मलोक

↑ (मानस पुरूष के साथ)

8. विद्युतलोक

↑

7. आदित्यलोक

↑

6. देवलोक

↑

5. उत्तरायण के छः महीने

↑

4. आपूर्यमाण पक्ष

↑

3. अहः दिन

↑

2. अर्चि–प्रकाश

↑

1. श्रद्धा–सत्योपसना

छान्दोग्य उपनिषद के अनुसार

देवयान मार्ग

10. ब्रह्मलोक

↑ (मानस पुरूष के साथ)

9. विद्युतलोक

↑

8. चन्द्रलोक

↑

7. आदित्यलोक

↑

6. सवंत्सर

↑

5. उत्तरायण के छः महीने

↑

4. आपूर्यमानपक्ष (शुल्कपक्ष)

↑

3. अहः–दिन

↑

2. अर्चि (ज्योंति)

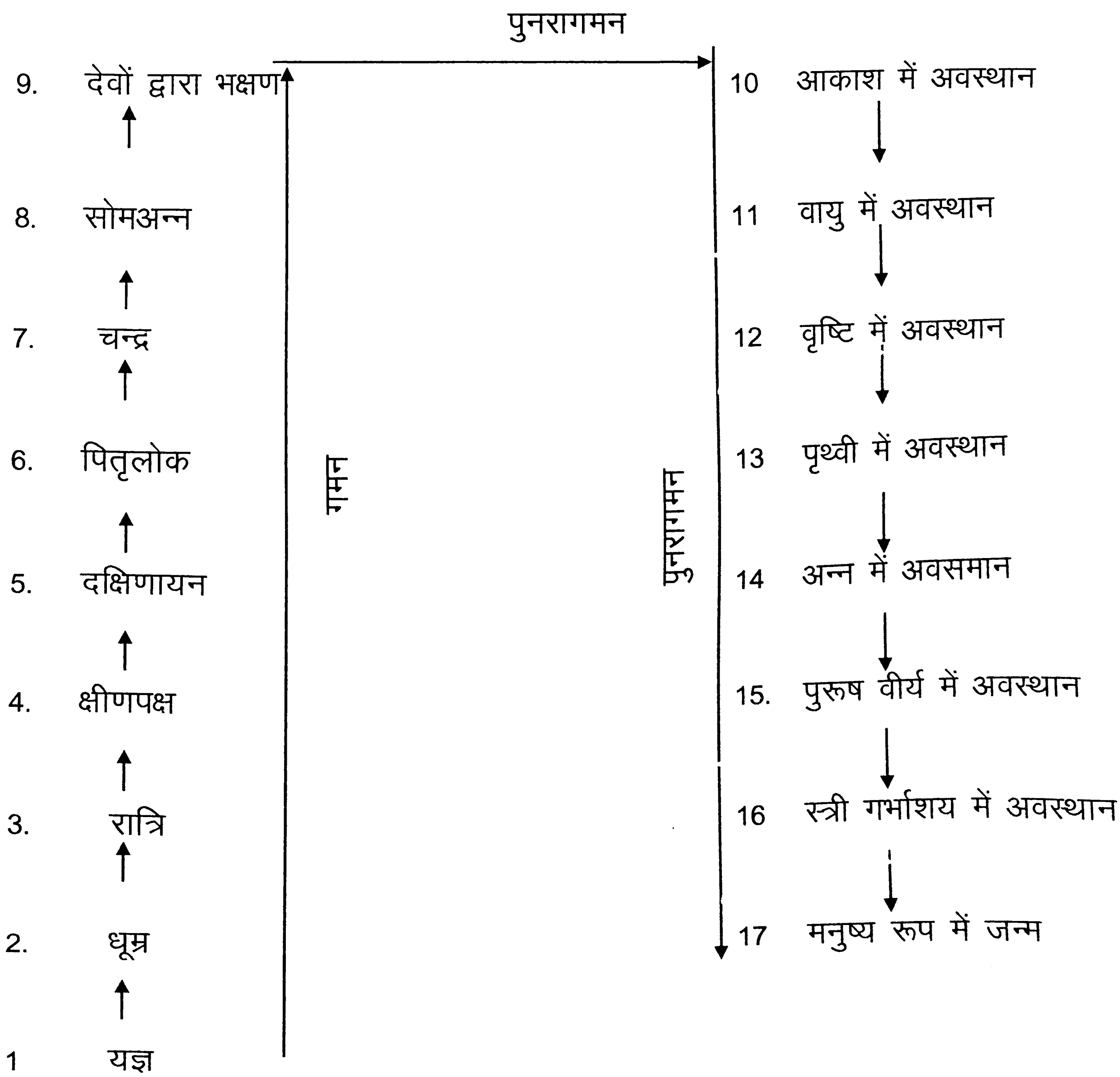
↑

1. श्रद्धा–तप–उपासना ।

यहाँ मार्ग वृहदारण्यक में देवलोक कहा है, वहाँ छांदोग्य में सवंत्सर कहा है । तथा आदित्य से विद्युत में जाने का वर्णन वृहदारण्य में है, वहाँ छांदोग्य में बीच में चन्द्रलोक का एक पड़ाव अधिक कहा गया है । धूममार्ग (पितृयान मार्ग का वर्णन इस प्रकार है) ।

धूम्रमार्ग (बृहदारण्यक उपनिषद के अनुसार)

पुनरागमन



धूम्रमार्ग (छन्दोग्य उपनिषद् के अनुसार)

गमन

10. देवों द्वारा भक्षण
9. सोमअन्न
8. चन्द्रमा
7. आकाश
6. पितृलोक
5. संवत्सर
4. दक्षिणायन के छः महीने
3. अपरपक्ष
2. रात्रि
1. दान

(1 → 10: दान से देवों द्वारा भक्षण तक ऊपर की ओर)

पुनरागमन

10 आकाश में अवस्थान
↓
11 आकाश में अवस्थान
↓
12 वायु में अवस्थान
↓
13 धर्म में अवस्थान
↓
14 अभ्रमें अवस्थान
↓
15 मेघ में अवस्थान
↓
16 वृटि में अवस्थान
↓
17 ब्रीहि आदि अन्न मे
↓
18 अन्नखाने वाले पुरुष में
↓
19 स्त्री के गर्भाशय में
↓
20 मनुष्य का जन्म

इन मार्गों में कुछ शब्दों की अधिकता है, परन्तु तत्व में कोई भेद नहीं है । अन्य उपनिषदों में भी देवयान और पितृयान के सम्बन्ध में कहा गया है । प्रश्नोपनिषद में भी इन मार्गों का वर्णन मिलता है । संतत्सर प्रजापति है, उसके उत्तर और दक्षिण में दो अयन हैं, जो कर्ममार्गी कर्म करते हैं, वे चन्द्रलोक को प्राप्त होते हैं, वे बार–बार पुनर्जन्म को प्राप्त होते रहते हैं । अतः जो प्रजा की इच्छा करते हें, वे इस पितृयान मार्ग का अवलंबन करते हैं ।[1] दूसरे ऋषि तप, ब्रह्मचर्य, श्रद्धा और विद्या द्वारा आत्मा की खोज करते हैं, वे आदित्य को प्राप्त करते हैं । यह आदितय प्राणों का आधार है और यही अमृत और अभय प्रदान करने वाला है । इसे प्राप्त करने वाले फिर लौटकर नहीं आते ।[2] इन दोनों मार्गों से जाने वालों की गतियॉ भिन्न–भिन्न होती हैं ।

मुण्डकोपनिषद् का भी यही कथन है कि सत्य, तप, ज्ञान और ब्रह्मचर्य से यह आत्मा प्राप्त हो सकता है । यह शरीर के अन्दर जयोतिरूप शुभ्र है । सत्य की जय होती है, असत्य की नहीं । सत्य से ही देवयान मार्ग पर गति होती है । आप्तकाम ऋषि इसी मार्ग से जाते हैं और सत्य के परम पद को प्राप्त करते हैं ।[3] यह देवयान मार्ग कहा है, इससे भिन्न दूसरा मार्ग है, वह मनुष्य को भोगी जीवन में फंसाता है ।

---

1. संवत्सरो वै प्रजापतिस्तस्यायने दक्षिणं चोत्तरं च । तद्ये ह वै
   तदिष्आपूर्ते कृतमित्युपासते ते चान्द्रमसमेव लोकमभिजयन्ते । त एव
   पुनरार्वन्ते, तस्मादेते ऋषयः प्रजाकामः दक्षिण प्रतिपद्यन्ते । एष ह
   वै रथिर्यः पितृयाणः ।। — प्र0उप0 प्र0 1
2. अथोत्तरेण तपसा ब्रह्मचार्येण श्रद्धया विद्ययाऽऽतमानमन्विष्यादित्यमभि
   जयन्त एतद्वै प्राणनामायतनमेतदमृतमभयमेद्वदमृतमभयमेतत्परायणमेतत्तस्मानं
   पुनरावर्तन्ते ।। — प्र0उप0 प्र0 1
3. सत्येण लभयस्तपसा ह्येष आत्मा समग्ज्ञानेन ब्रह्मचर्येण नित्यम् ।
   अन्तशरीरे ज्योतिर्मयो हि शुभ्रो यं पश्यन्ति यतयः क्षीणदोषाः ।।
   सत्यमेव जायते नानृतं, सत्येन पन्था विततोदेवयानः ।
   येनाक्रमन्त्यृषयों ह्याप्तकामा यत्र तत्सत्यस्य परमं निधानम् ।। — प्र0उप0 3/1

ऋग्वेद के अनुसार मनुष्य की देव, पितर ये दो प्रकार की गतियाँ होती है। जगत् इस माता–पिता रूपी (धावा पृथिवी के मध्य से) दो मार्गों से जाना जाता है। उपनिषदो में इन दोनों मार्गों को विभिन्न नामों से पुकारा गया है –

शुक्ल पक्ष	कृष्ण पक्ष
शुद्ध पक्ष	कृष्ण पक्ष
शुद्ध मार्ग	कृष्ण मार्ग
आपूर्यमान पक्ष	अपक्षीयमान पक्ष
श्रद्धा तप	यज्ञ
त्प, ब्रह्मचर्य, विद्या	कर्ममार्ग
ज्ञानमार्ग देवयान	पितृयान
उत्तर अयन	दक्षिण अयन
उत्तर गति उच्चतरगति	दक्षिण गति

इस प्रकार एक का नाम शुक्ल और दूसरे का नाम कृष्ण है । यहीं दोनों मार्गों के स्वरूप का निश्चय हो सकता है । 'आपूर्यमान का अर्थ पूर्ण करने वाला और अपक्षीयमान का अर्थ क्षीण करने वाला है । जो शुद्ध मार्ग है, उससे जाने वाले अपने आपको प्रतिक्षण परिपूर्ण होने का अनुभव करते हैं, और कृष्ण मार्ग से जाने वाले अपने आपको क्षीण होने का अनुभव करते हैं । यहाँ के पुण्यसंचय के क्षीण होने के पश्चात् वे स्वर्ग से गिरा दिये जायेंगे । एक मार्ग में ब्रह्मचर्य और विद्या हैं और दूसरे मार्ग में केवल कर्म है । एक मार्ग में (उत्तर, उत्त्र) उच्चतर होने की सम्भावना है और दूसरे मार्ग में वैसी सम्भावना नहीं है । प्रत्युत बार–बार

आने का निश्चय है । इस तरह यें शब्द दोनों मार्गों का स्वरूप बतलाते हैं । एक मार्ग से जाने से शुद्धता आती है और दूसरे मार्ग से जाने से कृष्णता, कालिमा आती है । इन दोनों मार्गों पर जाने वाले से ये दो भिन्न परिणाम होते है। एक मार्ग से जाने से स्वाधीनता मिलती है और दूसरे मार्ग से जाने से अनेक दुःख भोगने पड़ते हैं ।

मृत्यु और पुनर्जन्म :–

एक ओर इस संसार में प्रत्येक पदार्थ नष्ट होता है, हर प्राणी मरता है और कृति का क्षय एव नाश होता ही रहता है, तो दूसरी ओर यह सृष्टि कभी खाली नहीं होती । जो कुछ, जितना और जिस प्रकार का था वैसा, उतना ही उसी प्रकार का पुनः रूप और आकार लेकर वापस आता है । प्राणी मरते हैं, तो नये जन्म भी होते हैं । पदार्थ विनष्ट होते हैं, तो नये रूप ग्रहण कर लेते हैं । परिवर्तन और निरन्तर परिवर्तन ही शाश्वत् सत्य है । रूप परिवर्तन, आकार परिवर्तन, भाव परिवर्तन ही विचार परिवर्तन और चेतन–अचेतन का परिवर्तन ।

यह परिवर्तन भी प्रकृति के एक ही नियम से संचालित होता है । वह है कि "पदार्थ अविनाशी है, न कम होता है न बढ़ता है ओर न समाप्त होता है । जितना कि उतना ही रहता है और सदैव उतना ही रहेगा । रूप, रंग और आकार में परिवर्तन होता रहेगा ।" यही सृष्टि में सदा से होता आया है ।

यह शरीर इसकी कर्मेन्द्रियाँ, ज्ञानेन्द्रियाँ और अन्तःकरण अर्थात् मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार सब जड पदार्थ हैं, वही समस्त इच्छाएँ, वासनाएं, कामनाएँ, भावनाएँ और विचार भी जड़ पदार्थ हैं । अन्तर केवल इनकी सूक्ष्मता में है । हम

जानते हैं कि प्रत्येक शब्द एक अर्थ रखता है । जब वह बोला जाता है, जो ईथर या आकाश में एक ध्वनि तरंग बनाता है । जब हम उस ध्वनि तरंग को पुनः अपने यन्त्र पर ग्रहण कर लेते हैं, तो वह पुनः प्रकट हो जाता है । कोई भी बोला हुआ शब्द या केवल सोचा हुआ शब्द अपने से ही जुडी हुई विभिन्न–विभिन्न सूक्ष्म तरंगों को जन्म देता है । हम जितने विचार कहते, बोलते या करते हैं, वे सब सूक्ष्म तरंग रूप आकाश में शेष रह जाता हैं और हमारे मस्तिष्क से भी जुड़े रहते हैं । यें भी तो जड़ हैं । इनका कभी नाश नहीं होता, ये भी कभी समाप्त नहीं होते । सदा सदा रहते हैं । ये ही मानव के सूक्ष्म 'संस्कार' हैं । इनका भी कभी नाश नहीं होता । जिस प्रकार पदार्थ का रूप परिवर्तन होता रहता है, उसी प्रकार ये विचार भी अपने नवीन स्थान पर परिवर्तित होकर चले जाते हैं । जैसे– कार्बन सदा कार्बन के मूल रूप में ही परिवर्तित होगी, आक्सीजन अपने ही रूप में और इसी प्रकार हर तत्व अपने मूल तत्व रूप में पुनः परिवर्तित होता है। ठीक उसी प्रकार मानव द्वारा अर्जित अनन्त विचार संस्कार की सूक्ष्म तरंगे अपने मन,बुद्धि व अह ंके सूक्ष्म परमाणुओं के घेरे में सन्निहित चेतन्य अशं सहिंत शरीर के अन्त होने के पश्चात आकाश के सूक्ष्म मण्डल में चली जाती है । यें तरंगे ऐक्स, अल्फा, गामा रे या अलट्रावायलेट किरणों से भी सूक्ष्म होती है । अंतः उनके जलने व नष्ट होने का कोई प्रश्न ही नहीं उठता ।

प्रत्येक जीव का यही 'सूक्ष्म शरीरः कहलाता है, जो अनन्त विचार संस्कार की धारा होती है और मन, बुद्धि व अह ंके परमाणु इसमें सन्निहित होते हैं । यही सूक्ष्म शरीर व अपने से सम्पर्क में आये किसी भी व्यक्ति के शरीर में 'भ्रूण'

के बनने पर आता है तो जिससे जिसका निकटतम सम्पर्क का कर्मफल से सम्बन्ध होता है उसके भ्रूण अवस्था में सूक्ष्म तरंगों द्वारा जुड जाता है । ज्यों–ज्यों गर्भ विकसित होता है और शरीर पनपता है उसमें मस्तिष्क विकसित एवं पूर्ण होता है , वैसे–वैसे ही यह सूक्ष्म तरंगों की धारा उससे जुड़ती जाती है। और उसके मसितष्क के सेरीबेलम वाले भाग में असंख्य धारियाँ खींच देती है । आगत मनुष्य के विकास होने पर बाहर की सूक्ष्म तरंगे उसमें प्रवेश कर जाती हैं। एक नये शरीर से इस सूक्ष्म तरंग धारा का जुड जाना ही 'पुनर्जन्म' कहलाता है। जिस प्रकार पदार्थ का रूप परिवर्तन होता है उसी प्रकार जीव का स्वरूप परिवर्तन होता है । यह सब प्रकृति जीव का स्वरूप परिवर्तन होता है । यह सब प्रकृति के अविनाशशीलता एवं स्वरूप परिवर्तन के नियमानुसार होता है ।

गीता में पुर्नजन्म के विषय में लिखा है कि जिस देहधारी को इस देह में बालपन, तारूण्य और वृद्धावस्था प्राप्त होती है । इस देह की तीनों अवस्थाओं से देहधारी आत्मा में कोई हेर–फेर नहीं होता है ।[1] देह के बालपन में आत्म बाल नहीं होती । इस प्रकार देह के तारूण्य और वृद्ध होने पर आत्मा पर कोई प्रभाव नहीं पडता । उसी प्रकार इस देह की समाप्ति पर दूसरी देह प्राप्त होना चौथी अवस्था है । आत्मा जैसे पहले तीन अवस्थाओं में रहती हुई एक जैसी रहती है, उसी प्रकार अन्य देह की प्राप्ति होने पर भी वैसी ही रहती है और इसी प्रकार इस जन्म के पूर्व भी पूर्व देह की अन्तिम अवस्था में वह थी ।

1. देहिनोऽस्मिन यथा देहे कौमारं जरा ।
तथा देहान्तरप्राप्तिर्धीस्तत्र न मुह्यति ।।
भ0गी0अ0 2

ऋग्वेद में भी इसी प्रकार कहा गया है कि वह सनातन है, यह पुनः पुनः नवीन जैसा होता है । तू स्त्री है और पुरूष भी है, तू कुमार है और कुमारी भी है। तू इनका पिता है और इनका पुत्र भी है, इसमें ज्येष्ठ और कनिष्ठ भी है । मन में प्रविष्ट होकर रहा हुआ तू एक ही देव है । पहले जन्मा था वहीं अब गर्भ में पुनः आ गया है ।[1]

अर्थात् जीवात्मा सनातन अथवा नित्य है, वह स्त्री के शरीर में स्त्री और पुरूष के शरीर पुरूष होती है । वह कुमार, कुमारी, वृद्ध–तरूण–जरापीडित होती है, यह शरीर की अवस्था के कारण ही होता है, ऐसा मानते हैं । उसी प्रकार यह किसी का पिता, किसी का पुत्र, किसी का बडा भाई और किसी का छोटा भाई होता है और एक बार यही जन्म लेने पर भी पुनः पुनः गर्भ में आता है अर्थात् बार–बार जन्मता है ।

1. सनातनमेनमाहुरूताद्य स्थात्पुनर्णवः । त्वं स्त्री त्वं पुमानसि त्वं कुमार उत वा कुमारी । त्वं जीर्णों दण्डेन वंचिस त्वं जतो भवसि विश्वमुखः । उतैषां पितोत वा पुत्र एषामुतैषां ज्येष्ठ उत वा कनिष्ठः । एको ह देवो मनसि प्रविष्टः प्रथमों जातः स उ गर्भे अन्तः ।।

— ऋग्वे0 20/8

इसी प्रकार उपनिषदों में भी कहा गया है बडी आयु होने के बाद इस लोक से जाता है और पुनः जन्म लेता है ।[1] वह पुनः पुनः जन्म लेकर मृत्यु के वश में होता है।[2] यही प्रकाशमान आत्मा सब दिशाओं में है वह पहले जन्मा था, वही फिर से गर्भ में आया है । वह एक बार जन्मा हुआ भविष्य में पुनः जन्म लेगा ।[3]

इसी कारण इसको मातरिश्वा अर्थात् 'माता के गर्भ में रहने वाला' कहते हैं। क्योंकि यह बार–बार माता के गर्भ में जाता है और जन्म धारण करता है । पहले जन्म धारण करता है, उस देह की समाप्ति पर उस देह का त्याग कर माता के गर्भ में प्रविष्ट होता है, और वहाँ नया देह धारण करता है । इस प्रकार यह बार–बार माता के गर्भ में रहकर बार–बार भिन्न–भिन्न देह धारण करता है । गीता के अनुसार आत्मज्ञानी मनुष्यों को पुर्नजन्म नहीं होता अर्थात् ऐसे मनुष्य जन्म मरण के प्रवाह से बाहर हो जाते हैं । जिनके पाप ज्ञान से धुल गये हैं, वे पवित्रात्मा लोग ईश्वर का ध्यान करते है और वह ईश्वर परायण होते हैं ।

---

1. वयोगतः प्रैति स इतः प्रयन्नेव पुनर्जायते ।
   – ऐ0उप0 4/4

2. पुनः पुनर्वशमापद्यतेमे ।
   – कठ0उप 2/6

3. एषो ह देवः प्रदिशोऽनु सर्वाः पूर्सों ह जातः स ऊँगर्भे अन्तः ।
   स एव जातः स जनिष्यमाणः प्रत्यङ् जनास्तिष्ठति सर्वतोमुखः ।।
   – श्वे0 उप0 2/16

इससे वह जन्म मरण के चक्र से छूट जाते हैं ।[1] ब्रह्म लोक से लेकर सब लोग जन्म मरण की यातना भोगने वाले हैं , परन्तु जो मनुष्य ईश्वर को प्राप्त करते हैं, उनको पुनः जन्म नहीं लेना पडता ।[2]

इस प्रकार परमेश्वर की भक्ति करने वाले उसे प्राप्त होने के पश्चात पुनः पुनः जन्म–मरण के कष्ट में नहीं पडते है । इस ज्ञान को प्राप्त करके उपासक ईश्वर के गुण–धर्मों के समान गुण–धर्मों के समान गुण धर्मों से मुक्त होता है, तत्पश्चात् उसको सृष्टि की उत्पत्ति के समय में भी जन्म लेना नहीं पड़ता और प्रलय काल में भी उसको व्यथा नहीं होती ।[3] प्रकृति और पुरूष का यथावत् ज्ञान होने पर उसको कर्म करते हुए भी निर्लेपता सिद्ध करने का उपाय ज्ञात होता है और उस कारण उसको पुर्नजन्म लेने का कारण नहीं बनता ।

1. तदबुद्धयस्तदात्मानस्तन्निष्ठास्तत्परायणाः ।
गच्छन्त्यपुनरावृतिं ज्ञाननिर्धूतकल्मषाः ।
— भ0गी0अ0 5

2. आब्रह्मभुवनाल्लोकाः पुनरावर्तिनोऽर्जुन ।
मामुपत्य तु कौन्तेय पुर्नजनम न विद्यते ।।
— भवगी0अ0 8

3. इदं ज्ञानमुपाश्रित्य मम साधर्म्यमागताः ।
सर्गेऽपि नोपजायन्ते प्रलये न व्यथन्ति च ।।
— भ0गी0अ0 14

पंचम अध्याय

1. कर्मफल एवं जन्म--मरण का चक्र
2. आर्षविज्ञान एवं वर्तमान विज्ञान
3. मोक्ष या मुक्ति
4. पूर्ण भण्डार सबका स्रोत परमतत्व परमात्मा
5. ईश्वर दर्शन का लाभ

कर्मफल एवं जन्म–मरण का चक्र :–

प्रत्येक मनुष्य कर्म करने को विवश है । शरीर के अपने अपने कर्म हैं, जो अनिवार्य रूप से करने ही पड़ते हैं । जैसे– निद्रा, भूख–प्यास, विसर्जन आदि आदि । यह नित्य नैमित्तिक कार्य है । इनका फल भी स्वाभाविक अथवा प्राकृतिक रूप से मिलता रहता है । कुछ कार्य जीवन–निर्वाह, आजीविका और परिवार संचालन के लिये करने ही पडते हैं । सामान्य रूप से कर्त्तव्य रूप में किये गये कार्यों से कोई विशेष फल या संस्कार नहीं बनते । इसी प्रकार से मनुष्य सामाजिक राष्ट्रीय एवं अन्य कार्यों को सम्पन्न करता है । यह सत्य है कि हर कर्म का फल आवश्य होता है या हर क्रिया की प्रतिक्रया अवश्य होती है । चाहे हम इसे चाहे या न चाहे प्रकृति तो अपने चक्रानुसार फल प्रदान करती ही है ।

जो कर्म किसी फल की वासना से किये जाते हैं, वे सकाम कर्म होते हैं । उनका वैसा ही फल भी मिलता है और वैसे ही संस्कार बनते जाते हैं । यही सकाम कर्म सामान्य में हृदय की शुद्ध भावना से सम्यक् उपायों से सम्पन्न किये गये हैं, तो इनके सामान्य फल या संस्कार सुख समृद्धि आदि देते हैं । इनसे भी संस्कार बनते हैं । किन्तु इनका प्रतिफल बन्धन में बांधने वाला नहीं होता । यही कर्म जब घोर स्वार्थी भावना से, दूसरों के अधिकारों का हनन करके, छल–कपट धोखा–धडी और निन्दनीय उपायों को अपनाकर किये जाते हैं, तो वे समान प्रतिरोध प्रतिक्रिया अवश्य होती है । जैसी क्रिया होती है, वैसी ही प्रतिक्रिया या भाग्य या संस्कार बनता है । आज का कर्म ही कल का भाग्य अथवा संस्कार है।

कल का कर्म उससे आगे का और इसी तरह यह धारा सतत चलती रहती है ।

कुछ कर्म पूर्ण निष्काम भाव से फल की आसक्ति से रहित होकर किये जाते हैं । इनमें कोई वासना, भावना, इच्छा या स्वार्थ नहीं होता । इसकी विरोधी प्रतिक्रिया नहीं होती । निष्काम कर्मों से संस्कार अथवा भाग्य नहीं बनता । इनका भोग भोगने की विवशता भी नहीं होती । अतः यह जीवनमुक्त या वीतराग पुरूषों के कर्म होते हैं । इनसे कोई बन्धन नहीं होता । यह अपना शरीर तयागते समय कोई भाग्य, संस्कार या क्रिया की प्रतिक्रिया कुछ नहीं ले जाते । अतः स्वतन्त्र या स्वतन्त्र आत्मा होते हैं ।

शेष सभी प्रकार के कर्म अपनी प्रतिक्रिया स्वरूप भाग्य या संस्कार बनाते हैं – बनाते ही रहते हैं । उन्हीं के फलों का भुगतान करने के लिये पुनः कर्म के संस्कार बनाते हैं । यह सिलसिला तब तक चलता रहता है जब तक आत्मविज्ञान के साधन अपना कर आत्मज्ञान प्राप्त नहीं कर लिया जाता है । यह प्राकृतिक नियम है कि "हर क्रिया की समान प्रतिरोधी प्रतिक्रिया अवश्य होती है" इसी को कई संस्कार, कर्मफल, और भाग्य आदि कई नामों से पुकारते हैं ।

आत्मज्ञान के पश्चात ही पूर्ण निष्कामता, वीतरागिता और अनासक्ति हो जाने से किसी भी कर्म के फल की कामना नहीं होती । इनका कर्म केवल कर्त्तव्य पालनवश किया हुआ निःस्वार्थ अनासक्त कर्म होता है । अतः वह कोई बन्धन अथवा भाग्य, प्रतिफल या प्रतिक्रिया उत्पन्न नहीं करता । वे अपना कोई

प्रभाव नहीं छोड़ते ओर मनुष्य सारी जंजीरों को तोडकर स्वच्छ आत्मा के रूप में विचरता है ।[1]

यह जन्म–मरण का चक्र भी इसी क्रिया प्रतिक्रिया का प्रवाह है, धारा है और कडियाँ हैं । एक क्रम है जो सतत चलता रहता है । जब से सृष्टि बनी है और जब तक रहेगी, यह चक्र भी चलता रहेगा । यही जीवनधारा भी है, यही सृष्टि का सतत प्रवाह है । यही नवीन और पुरातन का खेल भी है । यही परिवर्तन की धारा है । इसमें असंख्य जीव पूर्ण विवशता से बहते रहते हैं। कभी विश्राम नहीं, कभी ठहराव नहीं और कभी कोई शान्ति का पल नहीं । सदा अशान्ति, सदा हलचल, सदा गति और सदा भागदौड़ । एक रूप आकार लिया, दूसरा लिया, हजारों लिये और हजारों नष्ट हुये । यह जीवन मरण का खेल होता रहता है ।

इस खेल में जीवात्मा अविनाशी होते हुये भी बनते–बिगडते शरीरों में उपस्थित रहने के कारण सुख एवं दुःख की सतत प्रवाहिनी सरिता में डूबता उतरता रहता है ।

श्रीमदभगवत पुराण में श्री कृष्ण ने उद्धव को कर्म के विषय में समझाते हुए कहा है कि जो मनुष्य कर्मों और उनके फलों से विरक्त हो चुके हैं और उनका परित्याग कर चुके हैं, वे मोक्ष के अधिकारी है । इसके विपरीत जिनके चित्त में कर्मों और उनके फलों से वैराग्य नहीं हुआ, उनमें दुःख बुद्धि नहीं हुई है,

---

1. यह चादर सुर मुनिजन ओढी, ओढ के मैली कीन्ही चदरिया
दास कबीर ने यतन से ओढी ज्योकि त्यों धर दीनी चदरिया ।।
– संत कबीरदास

वे सकाम कर्मयोग के अधिकारी हैं ।[1] मनुष्य को कर्म तब तक करना चाहिये, जब तक कर्ममय जगत् और उससे प्राप्त होने वाले स्वर्गादि सुखों से वैराग्य न हो जाये ।[2] अपने धर्म में निष्ठा रखने वाला पुरूष इस शरीर में रहते–रहते ही निषिद्ध कर्म का परित्याग कर देता है और राग द्वेष आदि मलों से मुक्त होकर पवित्र हो जाता है । इसी से परम गति को प्राप्त करता है । परम पद प्राप्त होने पर उसमें से कर्तापन का भाव हट जाता है । उसके कार्य केवल कर्त्तव्यपालन के लिये ही होते हैं । इस प्रकार आत्मविज्ञान अंतःकरण में समदर्शिता के बीज बो देता है । जिससे प्रेम, उदारता, भाईचारा मेंलमिलाप, त्याग सहयोग और सर्व कल्याण मंगल के सुमन खिलते हैं । हर्ष प्रसन्नता, शान्ति और सन्तुष्टि के फल उगते हैं और ''आत्मवत् सर्व भूतेषु'' एवं ''बसुधैव कुटुम्बकम'' की सुन्दर भावनाओं की सुरभि से जगत् ओर जीवन सुरभित हो जाता है ।[3]

---

1. निर्विष्णानां ज्ञानयोगों न्यासिनामिह कर्मसु ।
   तेष्वनिविष्णचितानां कर्मयोगस्तु कामिनाम् ।।
   – भा0पु0स्क0एकादश अ0 20
2. तावत कर्माणि कुर्वीत न निर्विद्येत याव्ता ।
   मत्कथाश्रवणादौ वा श्रद्धा यावन्न जायते ।
   – भा0पु0स्क0एकादश अ0 20
3. अस्मिॅल्लोके वर्तमानः स्वधर्मस्थोऽनघः शुचिः ।
   ज्ञानं विशुदमाप्नोति मद्भक्तिं या यदृच्छया ।।
   – भा0पु0स्क0एकादश अ0 20

कूर्म पुराण में निष्काम कार्य का वर्णन करते हुये कहा गया है कि विद्वान् व्यक्ति के द्वारा आसक्तिरहित कर्त्तव्य बुद्धि से जो कर्म किया जाता है उसका वह कर्म भी मोक्ष देने वाला होता है ।[1] इसके विपरीत यदि नित्य कर्मों को करता भी रहे तो कर्म फल से विरक्ति न होने के वह उस कर्मफल के बन्धन में बंधा रहता है ।[2] इसलिए मनुष्य को चाहिये कि सभी प्रकार के प्रयत्न से आश्रित फल का त्याग कर क़र्म करता रहे अर्थात् निष्काम भाव से कर्म करता रहे । अपने उत्तरदायित्व के निर्वहन में अपने अवशेष बचे कर्मों को वीतराग होकर सम्पन्न करता है । अतः वह किसी भी कर्म के बन्धन में नहीं बंधता है । इस जीवन की बची हुई आयु में वह इस जीवन मे भोगे जाने वाले संस्कारों को भोग कर उनका क्षय कर देता है । उसे परम पद की प्राप्ति होती है ।[3] कर्मयुक्त ज्ञान से मोक्ष की प्राप्ति होती है और कर्मयुक्त ज्ञान दोष रहित होता है । इस प्रकार मनुष्य की सभी प्रकार की सांसारिक इच्छायें, कामनायें ओर वासनायें शान्त करके परमात्मा की प्रसन्नता के लिये निष्काम भाव से कर्म करना चाहिये ।[4]

---

1. कायमित्येव यत्कर्म नियतं संगवर्जितम् ।
   क्रियते विदुषा कर्म तदवेदपि मोक्षदम् ।।
   — कू0पु0पू0वि0अ0 4
2. अन्यथा यदि कर्माणि कुर्यानिनत्यमपि द्विजः ।
   अकृत्वा फलसन्यासं बध्यते तत्फलेन तु ।।
   — कू0पु0पू0वि0अ0 4
3. तस्मात् सर्वप्रत्यनेन व्यक्त्वा कर्माश्रितं फलम् ।
   अविद्वानापि कुर्वीत कर्माप्नोत्यचिरात् पदम् ।।
   — कू0पु0पू0वि0अ0 4
4. कर्मणा सहितांज्ञानात् सम्यग् योगोऽभिजायते ।
   ज्ञानं च कर्मसहितं जायते दोषविर्जितम् ।।
   तस्मात सर्वप्रत्येनेन तत्र तत्राश्रमेरतः ।
   कर्माणीश्ररतुष्टयथं कुर्यान्नैष्कर्म्यमाप्नुयात् । — कू0पु0पू0वि0अ0 4

गीता में संसार के जीवन ही में संसार के समस्त कर्म करते हुये उनमें ही श्रेय का मार्ग दर्शाया है । इसमें कर्म के स्वरूपतः त्याग को नहीं अपितु कर्मफलासक्ति के अभाव की स्थिति को सच्चा सन्यास और मोक्ष का द्वार निश्चित किया है ।[1] अर्जुन को कृष्ण ने कर्त्तव्य पालन के लिये प्रेरित करते हुये कहा है कि अपने कर्त्तव्य पालन में अर्थात् 'स्वधर्मे निधंन श्रेय' मनुष्य का वर्तमान स्थिति में जो कर्म है, वही उसका स्वधर्म है । जिनकी बुद्धि निश्चल हो गयी है, वे मोक्ष के साधन रूप इस कर्मयोग में लग जाते हैं । जिनका मन चंचल है उनकी बुद्धि दिग्भ्रमित रहती है । अनेक विध विषयो के जाल में भटकती रहती है । जैसा जीव तरह–तरह के माया मोह के जाल में फंस जाता है ।[2] कर्म को बन्धन से मुक्त बनाने के लिये निष्काम और राग–द्वेष रहित बुद्धि की भावना का कर्म के साथ रहना आवश्यक है । मनुष्य अपने समस्त कर्म ईश्वर को अर्पण करने के कारण मोक्ष का अधिकारी होता है ।[3] मनुष्य का अधिकार कर्म करने में है, फल ईश्वर के हाथ में है । अतः फल कर्मफल से अनासक्त होकर कर्म करना चाहिये ।[4]

---

1. एषा तेडभिहिता साड्रव्ये बुद्धियोगे त्विमां श्रृणु ।
बुद्धया युक्तो यया पार्थ कर्म बन्धं प्रहास्यसि ।।
– भ0गी0अ0 2

2. व्यवसायात्मिका बुद्धिरेकेह कुरुनन्दन ।
बहुशाखा हृयनन्तोश्र बुद्धयोऽव्यवसायिनाम् ।।
– भ0गी0अ0 2

3. यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम् ।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिंद्धिं विन्दति मानवः ।
– भ0गी0अ0 2

4. कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचनः ।
मा कर्मफलहेतुर्भुर्मा ते सगांडिस्त्वकमार्णि ।।
– भ0गी0अ0 2

ईशोपनिषद के अनुसार इस समस्त परिवर्तनशील जगत् में ईश्वर की व्यापकता है अर्थात् जगत् के पदार्थों ही में व्यापक नहीं प्रत्युत् जगत् के कर्मों भी ईश्वर के द्वारा ही हो रहे हैं । अतः समस्त कर्मों को ईश्वर को ही अर्पण करते हुये जीवन का निर्वाह करना चाहिये ।[1] राग–द्विष से रहित होकर जीवन यापन करने से मनुष्य को संसार का बन्धन नहीं होता और इस प्रकार कर्म करने से बृद्धि में पुर्नजन्म के यकारणभूत संसकार नहीं बनते हैं ।[2]

रामचरितमानस में भी इसी प्रकार का उल्लेख मिलता है कि मनुष्य को निष्काम भाव से कर्म करना चाहिए अर्थात् मन को कर्म में नहीं फंसने देना चाहिये। काम करते हुये भी उसमें अकर्ता का भाव विद्यमान होना चाहिये ।[3]

आर्ष दर्शन और वर्तमान विज्ञान :

किसी भी वस्तु की उत्पत्ति के लिये बीज का होना आवश्यक है, वह पेड़–पौधा हो, जीवन–जन्तु हो या अन्य–अन्य प्राणी । जहॉ तक जीव की उत्पत्ति का सम्बन्ध है, तो उसकी उत्पत्ति में माता–पिता का यौन सम्बन्ध ही कारण भूत है । पिता के वीर्य (Sprem) और माता के डिम्ब (Ovum) के सहयोग

---

1. ईशावस्ययमिदं सर्वं यत्किंच जगत्यां जगत् ।
   तेन त्यक्तेन भुंजीथा मा गृधः कस्यस्विद्धनम् ।
   – ई0उप0मं0 1

2. कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः ।
   एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे ।।
   – ई0उप0मं0

3. कर से कर्म करौ विधि नाना ।
   मन राखियौ जहॉ कृपानिधाना ।।
   – रा0च0मा0

से शिशु का जन्म होता है । अकेले पिता का वीर्य और माता का डिम्ब सन्तानोत्पत्ति करने में सक्षम नहीं होते । प्राचीन दर्शन के इस मत से आधुनिक शरीर शास्त्री भी सहमत हैं । इनके अनुसार जब स्त्री और पुरूष सम्भोग करते हैं, तो पुरूष वीर्य का स्त्री के डिम्ब के साथ डिम्ब डिम्बवाहिनी नाली के अन्दर चौडे भाग में जब मिलन होता है, तो इन दोनों का सहयोग होने से गर्भ स्थापित होता है । यद्यपि शुक्राणु को डिम्ब तक पहुँचने में लम्बी यात्रा करनी पडती है और इस लम्बी यात्रा में कई शुक्राणु नष्ट हो जाते हैं और विशेष शुक्राणु ही गर्भोत्पादन की क्षमता रखते हैं ।[1] साथ ही उनका मानना है कि स्त्री–पुरूष के सेल (कौशिक) मिलकर ही गर्भ की सम्पूर्ण सामग्री जुटाकर बच्चे को पैदा करते हैं , जिससे बच्चे की उचित वृद्धि होती है ।[2]

गरूड़ पुराण के अनुसार सम रात्रियों में गर्भाधान करने से पुत्र और विषम रात्रियों में कन्या होती है । इसी कारण पुत्र की इच्छा से पहले सात दिन छोड कर युग्म तिथियों में ही अर्थात् 8 , 10, 12, 14, 16 तिथियों में गर्भाधान करें ।

---

1. द्रष्टव्य–गर्भरक्षा और शिशुपालन ।
   – डा0 मुकुन्द स्वरूप शर्मा

2. Neither the male nor the female cell incomplete in itself but when they unite, they form a cell, is complete cell with a capacity for growth.
   - A Text book on Child Development
   Vol II Ch.4 Page 24.

उत्तम कन्या की प्राप्ति के लिये विषम तिथियों 7, 9, 11, 13, 15 स्त्री और पुरूष को मैथुन कार्य करना चाहिये ।[1] साथ ही शुक्र की अधिकता से पुत्र और रज की अधिकता से पुत्री की प्राप्ति होती है या दोनों के समान रूप से होने पर नपुसंक पैदा होता है ।

लेकिन आधुनिक विज्ञानी लिंग भिन्नता (Sex Determination) का कारण क्रोमोसोस (Chromosome) XX तथा YY को मानते है । इनके अनुसार क्रोमोसोम के 23 जोडों में से केवल एक जोडा लिंग निर्धारण करने में काफी होता है और एक पुरूष में एक बडा X क्रोमोसोम और एक छोटा Y क्रोमोसोम होता है । जब पुरूष और स्त्री का मिलन होता है, उस समय अगर स्त्री का X क्रोमोसोम पुरूष के Y क्रोमोसोम से मिलता है तो XY होने पर पुत्र पैदा होता है । लेकिन अगर शुक्र और डिम्ब दोनों X क्रोमोसोम को लेकर एकत्रित होते हैं तो XX होने पर पुत्री उत्पन्न होती है ।[2]

---

1. युग्मासु पुत्रा जायंते स्त्रियोऽयुग्मासुरात्रिषु ।
पूर्वसप्तकसुत्सृज्य तस्माधुस्मासु संविशेत् ।।
– गु0पु0प्रे0क0अ0 18

2- When meating between a male and female occurs and the ovum containing 'X' unite with a sperm containing 'Y' the result is boy (XY) on the other hand the sperm and ovum unite each other carring 'X' chromosome there is a development of female baby (XX).

- Element of Child development

Ch. 3 Page 72.

आयुर्वेद के मतानुसार गर्भ प्रथम मास मे आकृति में कफ के सदृश होता है। उस समय उसके अवयव सत् भी होते हैं और असद् भी होते हैं ।

आधुनिक चिकित्सक भी प्रथम मास में मैरूला (Marulla) या कलल या ब्लेस्चूला (Blastula) बुदबुद जैसा मानते है साथ में यह भी मानते हैं कि गर्भावस्था के तीसरे सप्ताह में गर्भ में कोशिकाओं का समूह देखने में सममतल नाली या टीले के आकार जैसा लम्बा होता है ।

आर्ष दर्शन के अनुसार द्वितीय मास गर्भ कफ के परिवर्तित होकर घना सा हो जाता है और गर्भाशय की श्लैष्मिक कला मोटी होने लगती है और वह बीज चारों तरफ से गर्भ को घेर लेता है और उसके भुजा आदि अंग बनने लगते हैं ।

जहॉ तक आधुनिक चिकित्सा विज्ञान का सम्बन्ध है, उनका मानना है कि द्वितीय मास में गर्भ पिण्डाकार होता है, लेकिन उस छोट से अंकुर के सभी भीतरी अवयव भी प्रकट होने लगते है। इस समय भ्रूण के हाथ और पैर आदि बनते हैं तथा भ्रूण अपने सभी अवयवों के साथ सम्बन्ध जोड़ लेता है तथा आठ सप्ताह में झिल्ली पूरी तरह तैयार होकर द्रव्य पदार्थ में रहने वाले बच्चे की रक्षा करती है।[1]

आर्ष ग्रन्थों के अनुसार तृतीय मास में नख, रोम, अस्थि, चर्म स्त्री पुरुष चिन्ह तथा अन्य छिद्र उत्पन्न होते हैं, इस मास में गर्भ में स्पन्द होने लगता है । इसके अवयव और इन्द्रियाँ अत्यन्त सूक्ष्म होती हैं ।

---

1. During the six week embryo is almost 2.5 cm long. In the same week his four limbs buds grow into arms and legs with webbed fingers and toes.

आधुनिक चिकित्सक गर्भ के अवयव और इन्द्रियों को द्वितीय मास में प्रकट होना मानते हैं । इनके अनुसार इस मास में भ्रूण के अवयव और इन्द्रियॉ स्पष्टतया दिखाई देते हैं । इनके अनुसार गर्भ इस प्रकार चेष्टा करता है कि गर्भिणी स्पष्टतया जान लेती है तथा भ्रूण के बाहरी लिंग अवयव भी इसी मास में तैयार होते है ।[1]

चतुर्थ मास गर्भ के सभी अंग–प्रत्यंग स्पष्ट रूप से दिखाई प्रतीत होते हैं और सात धातुओं का निर्माण होता है, लेकिन आधुनिक शास्त्र यह सभी लक्षण तृतीय मास में ही मानता है, पॉचवे मास में भ्रूण की पाचन किया भी तैयार हो जाती है और भ्रूण काफी प्रबुद्ध और सचेत हो जाता है ।

आधुनिक चिकित्सकों के अनुसार इस मास में एकत्रित होने लगती है। इस माह बच्चे की हदय इस प्रकार धडक्ता है कि गर्भिणी को स्पष्ट सुनाई देती है। इस माह में बच्चे की पेट में हरकते काफी बढ जाती है।[2]

प्राचीन ग्रन्थों के अनुसार छठे मास में झिल्ली लिपट कर घूमने लगती है। उस समय माता द्वारा खासे हुए अन्न जल से उसका शरीर पुष्ट होता है। आधुनिक चिकित्सकों के अनुसार छठे मास मे भ्रूण काफी लम्बा होता है। इस माह में बच्चे के चर्म में झुरियाँ पड़ जाती है और लाल दीखता है।

---

1 During the third month the fetus begun to move its arm and kick its legs and the months may become aware of its movement. Its respiratory organs are fairly will farmed, the sexual organ began to develop.
-Elernent of child development

2 Between 16-28 weeks the baby hear beat can be heard by a doctor.
Speaking of child case
Ch.11, Page 11.

बच्चा अपनी स्थिति पेट में कई बार बदलता है। बच्चे के ऊपर काफी चिकना सा द्रव्य इक्ट्ठा होता है। जिसको अंगेजी मे Vernix कहते है।[1]

सातवें मास में गर्भ हर प्रकार से पुष्ट हो जाता है इस माह में गर्भ वात, पिप्त और कफ से भी युक्त होता है इस मास में जन्म लेने वाला बच्चा जीवित रह सकता है क्योकि उसके सभी अंग पूर्ण रूप से विकसित होते है। जहाँ तक आधुनिक चिकित्सा विज्ञान की बात है यह भी इस बात से सहमत है कि सातवे मास में बच्चा जीवित रह सकता है लेकिन उसके लिए विशेष चिकित्सा की आवश्यकता हैं।[2]

प्राचीन चिकित्सा ग्रन्थों के अनुसार आठवे मास में गर्भ सभी प्रकार से स्थिर होता है और इसमें ओजकम से बार–बार माता और पुत्र में संचार से होता है। इनके अनुसार रसवाहिनी नाडियों द्वारा जब ओज गर्भ के हदय में संचार होता है , तो माता उदास हो जाती है और गर्भ खुश होता है। जब वह माता के हदय में संचार होता है तो माता प्रसन्न होती है इसी ओज के स्थिर न रहने के कारण आठवा माह गर्भ के लिए उचित नही माना गया।[3]

1. In the Month a soft creamy secreaction called vernix begin to collect on his Baby.
Atertbook on Child development
Val.11, Ch. 4, Psge 25-26

2. A few fetus are born before their 28 weak of development is complete some do survive but this is very rare befare this linae the baby internal organs have not devlop enough.

3 A eight months baby has even better chances give the special case that all permature babies need.
Atext book on child development
Val ,11, Ch. 4, Page 27.

लेकिन आधुनिक चिकित्सक इस विचार से सहमत नही है। सातवे की अपेक्षा आठवे वाला बच्चा बच सकता है।

नवम मास में गर्भ पूरी तरह से पूर्ण लेने के पश्चात गर्भस्थ सुख–दुख भूल जाते है आधुनिक चिकित्सा विज्ञान के अनुसार भी गर्भास्था का समय पूरा नौ मास अर्थात 40 सप्ताह या 280 दिन का ही होता है। इनके अनुसार नवम मास में गर्भ पूर्ण वृद्धि प्राप्त कर चुका होता है।

इस प्रकार गर्भ के कारण स्वरूप और मास भ्रण विकास आदि के विषय में प्राचीन ग्रंथों में जो विचार उपलब्ध होते है तथापि वे यद्यपि शत प्रतिशत आधुनिक चिकित्सा विज्ञान के अनुकूल नही है, तथापि आजके साधन बहुल चकित्सा पद्वति के विचारों में प्राचीन पद्वति की समानता विद्यमान है। वह वस्तुतः आश्चर्यकर और श्लाथनीय है। आवश्यकता है कि हम अपने पूर्वजों के सहस्त्रों वर्षो के अनुभवों के द्वारा निर्मित सिद्वान्त को आधुनिक चिकित्सा परीक्षण सामग्री की कसौटी में परीक्षण कर उनमें यथावश्यक परिमार्जन करे।

इस प्रकार मृत्यु के विषय पर भी आज के वैज्ञानिक युग का कुछ इस प्रकार कथन है आज का विज्ञान Medical Science भी इस बात से सहमत है। कि जब मनुष्य का दिमाग (Brain) काम करना बन्द कर देता है। तो उसकी मृत्यु हो जाती है । भौतिक विज्ञान भी चार्वाक दर्शन के समान शरीर के नाश होने के पश्चात् भी आत्मा के अस्तित्व के विषय में अभी मौन हैं। मृत्यु के पश्चात जीव को किन–किन अवस्थाओं से गुजरना पड़ता है आदि –आदि प्रश्नों तक आधुनिक विज्ञान नहीं पहुँच पाया है। यहाँ हमारे सूक्ष्मदर्शी मनिषियों ने मृत्यु के पश्चात्

जीव की दशा का सटीक वर्णन किया है। यह हमारें पूर्वजों के सहस्त्रों वर्षो के अनुभवों का फल है। भारतीय दर्शन मृत्यु के बाद भी जन्म मानता है। कर्मो के प्रभाव से जन्म–मरण का चक्र सदैव चलता रहता है, निष्काम कर्मो से जन्म मरण से ऊपर उठ कर मोक्ष की प्राप्ति का लाभ उठाता है।

मोक्ष या मुक्ति

पूर्ण स्वतन्त्रता पूर्ण स्वेच्छा पूर्ण अधिकार पूर्ण ईश्वर दर्शन से प्राप्त होता है। इसे पाकर मानव जन्म लेने में या न लेने में पूर्ण स्वतन्त्रता हो जात है। वह अपनी इच्छा से प्रकृति के तत्वों को ओढकर शरीर धारण कर लेता है। समस्त लीलायें करता है और जब मन चाहता है तो सबको भगवान कृष्ण की तरह तृणवत त्याग कर चला जाता है। वह जन्म मरण से ऊपर परमतत्व का अंश अपने पूर्ण सत्य स्वरूप को जान जाने के बाद जीवन युक्त हो जाता है। जीते जो पूर्व जन्मों के प्रारब्ध कर्मों को भोगकर क्षय कर देता है। और सारूप्य हरि से सायुज्य हरि बनकर मोक्षात्मा हो जाता है।

वह परमात्मा, जीवात्मा और प्रकृति तीनों के समग्र जब अलग–अलग स्वरूपों को जानने के पश्चात पूर्ण ज्ञानी परमात्मा बन जाता है। पूर्ण स्वतन्त्रता पूर्ण स्वेच्छा और अपने ऊपर पूर्ण अधिकार प्राप्त कर समस्त बन्धनों से परे जीवन और मृत्यु से ऊपर अपने सच्चे स्वरूप में स्थित हो जाना ही मोक्ष है।

ईश्वर के दर्शन की एक झलक मानव को जीवन में मुक्ति प्रदान कर देती हैं वह अपने जीवन के रहस्य को जान जाता है और ऐसा विवेकी पुरुष विषयों से विरक्त रहता है वह सोने –बैठने घूमने फिरने , नहाने , देखने, छूने,

सूँघने, खाने और सुनने आदि क्रियाओं में अपने को कर्ता नही मानता, बल्कि गुणों को ही कर्ता मानता है। गुण ही सभी कर्मो का कर्ता भोक्ता है।[1] अर्थात उसके कर्मो में पूर्ण निष्कामता आ जाती है। वह अपने उत्तरदायित्व के निर्वहन में अपने अवशेष बचे कर्मो को वितराग होकर सम्पन्न करता है। अतः वह किसी भी कर्म के बन्धन मे बंधता नही है। इस जीवन की बची हुई आयु में वह इस जीवन में भोगे जाने वाले संस्कारों को भोग कर उनका क्षय कर देता है और मोक्ष या मुक्ति के स्थान पर पहुँच जाता है। वह राग–द्वेष और अपने पराये से परे एक निद्वन्द महात्मा होता है।

गीता मे भी कहा गया है कि जो मनुष्य द्वेष से रहित हो उसे मे {कृष्ण} यह ज्ञान प्रदान करता हूँ। इस ज्ञान से मनुष्य अपने आपको अषुभ से मुक्त करता है[2] जो मनुष्य श्रद्वालु और द्वेष न करने वाला है, वह यदि मोक्ष ज्ञान का श्रवण करता है तो मुक्त हो कर पुण्य लोको को प्राप्त होगा।[3]

---

1. एवं विरक्तः शयने आसनातनमजंने।
दर्शनस्पर्शनध्राण भोजनश्रवणादिषं।।
न तथा बद्वयते विद्वास्तंत्र तत्रादयन गुंणान।
{भा0 पु0 स्क0 एकादश अ0।।}

2. इदं तु ते गुह्यतमं प्रवक्ष्याम्यनसूयवे।
ज्ञान विज्ञान सहित यज्ज्ञात्वा मोक्ष्य से ऽशुभात।।
{भ0 गी0 अ09}

3. श्रद्वावाननसूयश्र शृणुयादपि यो नर ।
सोऽपि मुक्तः शुभलोकन्प्राप्नुयात्पुणय कर्म वाम ।।
{भ0 गी0 अ018}

पूर्ण भण्ड़ार सबका स्रोत परमतत्व परमात्मा

परमात्मा समस्त सृष्टि और प्रकृति का मूल भण्ड़ार है । समस्त चैतन्य जीवों का आश्रय है । सब उसी में समाये रहते हैं । उसी में से दो धारों के रूप में अपनी–अपनी नैसर्गिक स्वेच्छा या स्फुरणा से व्यक्त होते हैं । एक धार से पदार्थ जड़ प्रकृति व्यक्त होती है जो अपने को 720 मूल तत्वों में अनुपातिक संख्यात्मक रूप में विभक्त कर असंख्य योगिक एवं मिश्रणों से समस्त ब्रहमाण्ड़ों के असंख्य तारा मण्ड़लों की रचना करती है । उन्हें धारण करती है, उनका नियमन करती है, संचालन करती है जब स्फुरण वापसी का होता है तो महाप्रलय कर वापस अपने भण्ड़ार में लीन हो जाती है ।

दूसरी धार चैतन्यमयी होती है । उसी के प्रभाव से प्रकृति से मन बुद्धि एवं अहंकार के जड़ परमाणु लेकर अंश 'जीवत्व' को प्राप्त करते हैं । ऐसे अनन्त जीव असंख्य योनियों और असंख्य आकारों या नाम रूपों में प्रकट होते हैं । पदार्थ से ढ़ॉचा ग्रहण करते हैं । जलचर, थलचर, नभचर और उदभ्जिज वनस्पति का स्फुरण होता है तो ये सब भी एक अनन्त चैतन्यमयी धार के रूप में होकर वापस अपने पूर्ण भण्ड़ार में समा जाते हैं ।

वही पूर्णतिपूर्ण भण्ड़ार परमतत्व परमात्मा है ।

ईश्वर दर्शन का लाभ

जीवन में यदि ईश्वर को जान लिया जाये तो सर्वोपरि उपलब्धि हो जाती है । यह मानव के दुखों को सदा–सदा के लिए अन्त अर्थात् जन्म–मरण से परे अपने सच्चे स्वरूप अथवा आत्मज्ञान की प्राप्ति है । क्या इससे बड़ा भी लाभ सम्भव है? किन्तु एकदम या एकपल में यह लाभ समझ में नहीं आ सकता । यदि हम सात–आठ वर्ष के बच्चे के सामने आन्तरिक विज्ञान, अणुबम या उससे भी ऊँचा ज्ञान व उसके लाभ बताने लगें तो वह कुछ भी नहीं समझेगा । यदि अरबी के महान् विद्वान को अंग्रेजी के मिल्टन और शेक्सपियर का साहित्य व उसकी महानता अँग्रेजी मे समझाने लगे तो वह भी अज्ञानी की भॉति मुँह देखता रह जाएगा । हॉ समय आने पर अध्ययन कर वह उसको जान जाएगा ।

ठीक इसी प्रकार से यदि हम ईश्वर, ईश्वर दर्शन, आत्मज्ञान और ब्रहम की प्राप्ति के आनन्द तथा ज्ञान के लाभ संसार के सर्वश्रेष्ठ भौतिक विद्याओं के ज्ञाता के समक्ष व्यक्त करने लगें, तो न वह विश्वास ही कर पायेगा, न उसमें अन्तर्निहित अवस्थाओं को समझ सकेगा । इसे एक क्षण में समझा देना सम्भव ही नहीं । यह बात और है कि सामान्य लाभों का विवरण देते हुए , समझाते हुए जब उसे भी ज्ञान के उस स्तर पर ले जाएगें, जहाँ पहुँच कर अति सूक्ष्म अवस्थाओं का बोध और उनका कार्य समझ में आता है, तब ही वह उस आत्मज्ञान, ईश्वर दर्शन अथवा ब्रहमज्ञान के रहस्य को भी समझ सकेगा और उसके लाभ को पूर्ण रूपेण जान सकेगा

कभी–कभी हम ऐसी अनेक बातों को नहीं जानते हैं, जिनसे हम निरन्तर लाभ उठाते हैं । हम न उसके बारे मे कभी विचार करते हैं । हमारी दृष्टि में यह कभी नहीं आता कि यह भी इतनी जरूरी है । बस अनजाने और पूर्ण अज्ञान में हम उनका लाभ प्राप्त करते हैं और जीवित रहते हैं ।

हम इस संसार में रहते हैं, जहॉ सर्वव्यापक निश्चित् तापक्रम सदा सर्वदा बना रहता है । यदि वह यह तापक्रम एक सैकिण्ड़ के अंशमात्र को भी समाप्त हो जाए, तो सारी पृथ्वी पर तुरन्त तत्काल जीवन समाप्त हो जाएगा । कोई भी प्राणी जीवित नहीं बचेगा । क्या कभी सोचा है, हमने इस सम्बन्ध में ? सम्भवतया कभी नहीं । हम इस जीवनदायी तापक्रम को जानें या न जानें, माने या न मानें और चाहे कितना ही यह कहें कि तापक्रम नहीं है, हम नहीं मानते इसे। इससे तो कोई अन्तर आने वाला नहीं है। हमारे पूर्णरूपेण अस्वीकार कर देने पर भी तापमान तो था और रहेगा। हम इस तापक्रम से जीवन प्राप्त कर जीवित रहेगें इससे उसके अस्तित्व या सत्ता पर कोई अन्तर नहीं पड़ेगा ।

हम यह भी जानते हैं कि वह तापक्रम जो पृथ्वी में समाया हुआ है, स्वयं कोई सत्ता नहीं है । यह स्वयं नहीं हो जाता । इसका भी कोई और कहीं कोई स्रोत या मूल है,जो एक अनन्त शक्ति या ऊर्जा का अंश है । उसी अंश के विद्यमान रहने से हमारी सृष्टि पर तापक्रम बना रहता है । चाहे वह सूर्य जो या उसमें भी अत्यन्त सूक्ष्म ऊर्जा जो हमें यह ताप प्रदान करती है । –है अवश्य । हम इसे जाने या न जाने–माने या न माने । यह तो है ही।

प्रत्येक तत्व का सूक्ष्मांश परमाणु होता है । हमने उसे न देखा है न जानते हैं। हम उसे माने या न मानें, जाने या न जाने,उसके अस्तित्व पर कोई अन्तर नहीं पड़ता । ऐसे अनेकानेक उदाहरण तथ्यात्मक रूप में अस्तित्व में हैं । हम माने तो ठीक, न माने तो ठीक । वे सब तो वैसे ही रहेगें ।

यही बात उस परमशक्ति परमतत्व परमात्मा के सम्बन्ध में परम सत्य है कि वह सबका प्राण है, प्राणों का भी प्राण है । शक्ति की भी शक्ति है । ज्ञान का भी ज्ञान है। आनन्द का भी आनन्द है और अनन्त चैतन्यता का भी मूल चैतन्य है । वह अनादि है, अगोचर है, अनन्त का अनन्त है, सदा है और सदा रहेगा । सब कुछ उसमें ही व्यक्त होता है और उसी में विलीन हो जाता है । वह शाश्वत है, सनातन है, स्वयंभू और स्वयं सत्ता है । यह सर्वातिपूर्ण सर्वव्यापक है । वह एक है–जैसा है,वैसा है । वह जो कुछ है, वह है । इतना ही कहा जा सकता है कि वह अनन्तानन्त शक्ति है, चैतन्य है, ज्ञान है और आनन्द है । वह सबका जीवन है ।

अब हम इस तथ्य को जाने या न जाने । मानें या न मानें । हम लाख कहें कि ईश्वर नहीं है । उसकी सत्ता को इसका क्या लेना देना । हम मानें या न माने जो है वह तो रहेगा ही । हम यह नहीं जान सकते कि ईश्वर को जानने का लाभ क्या है? हम एक ऐसे चार–पॉच वर्ष के शिशु के समान है,जिसे यह कभी बोध नहीं होता कि वह विद्यालय में क्यों भेजा जा रहा है, वहाँ उसे क्या मिलेगा । यदि उसे कहा जाए कि तम पढ़कर इंजीनियर, डॉक्टर या वैज्ञानिक बनोगे, तो वह बेचारा क्या जानेगा इंजीनियर, डॉक्टर या वैज्ञानिक किस टॉफी

या बिस्कुट का नाम है । ठीक इसी प्रकार हम पूर्णरूपेण एक अक्षम शिशु के समान है । चाहे मनुष्य अपने को विश्व का सबसे बड़ा विद्वान ही क्यों न समझे। हम आत्मज्ञान या ईश्वर दर्शन लाभ समझने में पूर्ण अक्षम हैं । इस ज्ञान के मार्ग की कल्पना ही नहीं की है ।

कारण यह है कि हमने इस 'ज्ञान' का मार्ग ही नहीं देखा है । यह क्या हो सकता है,हमें इसकी कल्पना ही नहीं है । जैसे शिशु धीरे–धीरे विद्यालय मे जब जाता रहता है, तो जानने लगता है कि कक्षा एक क्या है, पॉच क्या है । कुछ बड़ा होने पर जान जाता है कि हाई स्कूल क्या होता है । उससे क्या लाभ मिलेगा, इण्टर पढ़कर उसे क्या–क्या अवसर मिलेंगे,क्या–क्या लाभ पाने की सम्भावना है । यहाँ आकर वह डाक्टर, इंजीनियर, वैज्ञानिक अथवा प्रशासक आदि–आदि के लाभों के विषय में जान पायेगा । ठीक इसी प्रकार जब मनुष्य किसी जानकार गुरू के मिल जाने पर उसका संग करता है, उसकी आज्ञा मानता है,तब उसकी बुद्धि धीरे–धीरे आत्मज्ञान के महत्व और लाभ को समझती है उसकी समझ में आने लगता है कि 'मैं कौन हूँ', 'मेरा जीवन क्या और कैसे है' मेरा जन्म मरण क्यों होता है । मैंने कितना समय जलाकर बर्बाद कर दिया और इस महत्वपूर्ण विषय पर ध्यान ही नहीं दिया । यदि आत्मज्ञान या ईश्वर दर्शन प्राप्त हो जाए तो:–

1. वह जान सकेगा कि इस संसार में इतना दुःख शोक, कष्ट, विपत्ति क्यों है?

2. यह जन्म और मरण क्या है?

3. यह जन्म और मरण किसका होता है?

4. वह स्वयं कौन है, कहॉ से आया है और उसका अन्त क्या है?

5. उसके पुत्र, सम्बन्धी, मित्र, साथी उसके कौन हैं?

6. यह जगत्, यह सृष्टि, यह संसार क्या है, कैसे बना, क्यों बना ादि–आदि?

7. संसार के समस्त दुःख, शोक किस प्रकार नष्ट हो सकते हैं?

8. संसार के सारे कष्टों का कारण आत्मज्ञान का अभाव है ।

9. संसार का ज्ञान विभिन्नता ही विभिन्नता देखता है, समस्त इन्द्रियों से लिया गया ज्ञान केवल पदार्थो का जड़ ज्ञान है ।

10. आत्मज्ञान इन्द्रियों से परे का ज्ञान है । यह पदार्थ ज्ञान का मूल है ।

11. वह स्वयं अपने अविनाशी चैतन्य, अनन्तस्वरूप को जान सकता है और जानकर जन्म मरण से ऊपर उठ सकता है ।

12. वह जीवमात्र में एक एक चैतन्य अंश को देखता है । पेड़, वनस्पति, मक्खी, मच्छर, कुत्ते–बिल्ली, गाय, पशु–पक्षी और प्रत्येक मानव में एक ही चैतन्य है । अतः सब समान हैं । सब ईश्वर के रूप हैं ।

13. सब जीवमात्र एक हैं, एक परमात्मा के अंश हैं । कोई बड़ा छोटा नहीं, कोई ऊँचा नीचा नहीं । यहॉ कोई भेदभाव नहीं ।

आत्मज्ञान अपना ज्ञान है । यह जीवमात्र के जीवन का ज्ञान है । यह अनन्त ब्रहमाण्ड़ में एक सूत्रता, एकता, एकात्मता, आत्मीयता और अपनत्व दिखाता है। मानव को पूर्ण ज्ञान प्राप्त हो जाना, अपनी पूर्णता का बोध हो जाना, अपने अविनाशी, जन्म–मरण से परे शाश्वत स्वरूप का ज्ञान हो

जाना और ऐसे ज्ञान को प्राप्त कर समस्त अज्ञान, शंका, सन्देह, भ्रम, प्रश्न और समस्या आदि से मुक्त होकर अपने परम आनन्दमय स्वरूप में स्थापित हो जाना ही परम लाभ है । यही तो मानव जीवन की चरम उपलब्धि है,जिन्हें पाकर कुछ और पाना शेष नहीं रह जाता ।

ग्रन्थ सूची

क्रमांक	ग्रन्थ का नाम	लेखक	प्रकाशक	संस्करण
1.	अग्नि पुराण	हनुमान प्रसाद पोददार व्याख्याता	गीताप्रैस गोरखपुर	जनवरी 1970
2.	अर्थवेद		गीताप्रैस गोरखपुर	
3.	ईशावास्योपनिषद	डा0 वाचस्पति पाण्डेय	साहित्य भण्डार सुभाषबाजार, मेरठ।	1987
4.	उपनिषद रहस्य	चन्द्रवली त्रिपाटी	नेशनल पब्लिशिंग हाऊस, नई दिल्ली	1967
5.	उपनिषदड़क		गीताप्रैस गोरखपुर	1949
6.	उपनिषदों का तत्वज्ञान	डा0 जयदेव बेदालड़कार	प्राच्य विद्या शोध प्रतिष्ठान, हरिद्वार	शोधग्रथ 1980
7.	ऐतरेयोपनिषद्	कृष्णदास गोयन्दक	गीताप्रैस गोरखपुर	
8.	कठोपनिषद्	कृष्णदास गोयन्दक	गीताप्रैस गोरखपुर	
9.	कूर्म पुराणांक (कल्याण)		गीताप्रैस गोरखपुर	1997
10	केनोपनिषद्		गीताप्रैस गोरखपुर	1669
11	गरूड़ पुराण	प0ज्वाला प्रसाद चतुर्देदी	रंधीरप्रकाशन रेलवे रोड हरिद्वार	तृतीय 1999
12.	छान्दोग्योपनिषद्		गीताप्रैस गोरखपुर	प्रथम 1956
13.	तैतिरीयोपनिषद्		गीता प्रैस गोरखपुर	1999
14.	नारदपुराण	अन0पं0 ज्वालाप्रासाद चतुर्वेदी	गीता प्रैस गोरखपुर	

15.	नरसिंह पुराण	पं0ज्वाला प्रसाद चतुर्वेदी	चौखम्बा औरियन्अल वाराणसी	1978
16.	प्रश्नोपनिषद्	कृष्णदास गोयन्दक	गीता प्रैस गोरखपुर	1994
17	बृह्नारदीयपुरा	अनुवादक तारिणीश झा	हिन्दी साहित्य सम्मेलन प्रयाग इलाहाबाद	1989
18.	ब्रह्मपुराण	अनुबादक तारिणीश झा	हिन्दी साहित्य सम्मेलन प्रयाग इलाहाबाद	1989
19.	ब्रह्मसूत्र शांकरभाब्य	श्री कन्हैयालाल	हिन्दी साहित्य सम्मेलन प्रयोग इलाहाबाद	1989
20	श्रीमदभगवद्गीता		गीता प्रैस गोरखपुर	
21.	श्रीमदभागवतपुराण	अनु0प0ज्वाला प्रसाद चतुर्वेदी	रणधीर प्रकाशन रेलवे रोड़, हरिद्वार	प्रथमा 1995
22.	भगवतगीतार्थ	अभिनवगुप्त	कश्मीर प्रताप स्टीम प्रैस श्रीनगर	1933
23.	मार्कण्डेय पुराण	अनु0प0ज्वाला, प्रसाद चतुर्वेदी	रणधीर प्रकाशन रेवले रोड, हरिद्वार	
24.	माण्डूक्योपनिषद्	कृष्णदास गोयन्तक	गीता प्रैस गोरखपुर	1991
25.	मुण्डकोपनिषद्	कृष्णदास गोयन्तक	गीता प्रैस गोरखपुर	1991
26	मत्स्यपुरण	अनुजगदीश प्रसाद जालान		
27.	महाभारत	डा0 प0 श्री पाद्दामोदर सातवलेकर	स्वाध्याय मण्डल चारंडी (जि0बालैसाड महाराष्ट्र)	
28.	महाभारत	अनु0मोतीलाल जालान	गीता प्रैस, गोरखपुर	
29.	भविष्य पुराण	अन0पं0 ज्वाला प्रासाद चतुर्वेदी	रणधीर प्रकाशन रेवले रोड हरिद्वार	1995

30.	भारतीय दर्शन	आयार्च बलदेव उपाध्याय	चौखम्बा औरियन्टल वारणासी	1979
31.	भारतीय दर्शन	विक्रमादित्यसिंह	प्रकाशन केन्द्र लखनऊ	प्रथम 1987
32.	भारतीय दर्शन	डा0 उमेश मिश्र	सूचना विभाग, हिन्दी भवन लखनऊ	1970
33.	भारतीय दर्शन	डा0 राधाकृष्ण	मोतीलाल बनारसीदास दिल्ली	1974
34.	भारतीय दर्शन	श्री सतीशचन्द्र चट्टोपध्याय	पुस्तक भण्डार पटना	
35.	भारतीय दर्शन	एस0एन0दासगुप्त	राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ एकादमी	1978
36.	भारतीय दर्शन का सरल विवेचन	डा0 यसवन्त सिंह यादव	विनोद पुस्तक मन्दिर, आगरा	1978
37.	भारतीय दर्शन सरल विवेचन	डा0 राजकिशोर सिंह	विनोद पुस्तक मन्दिर आगरा	प्रथम 1978
38.	भारतीय दर्शन की रूपरेखा	डा0 गोवर्धन भट्ट	राजकमल प्रकाशन प्रा0 लि0 दिल्ली	तृतीय 1980
39.	भारतीय दर्शन की रूपरेखा	प्रो0 हरेन्द्र प्रासद सिंन्हा	मोतीलाल बनारसीदास वाराणासी	1983
40	योगवसिष्ठ	वाल्मीकि	मोतीलाल बनारसीदास वाराणासी	1983
41.	रामचरितमानस	गोस्वामी तुलसीदास	गीता प्रेस गोरखपुर	1993
42.	लिंग पुराण	अनु0प0ज्वाला प्रसाद	रंधीर प्रकाशन रेवले रोड,	द्वितीय

		चतुर्वेदी	हरिद्वार	1997
43.	वराह पुराण	अनु0मोतीलाल जालान	गीता प्रेस गोरखपुर	1977
44.	वामन पुरण	अनु0जगदीश प्रासाद जालान	गीता प्रेस गोरखपुर	जनवरी 1982
45.	वायु पुराण	अनु0जगदीश प्रासाद जालान	गीता प्रेस गोरखपुर	जनवरी 1982
46.	विष्णु पुराण	अनु0जगदीश प्रासाद जालान	गीता प्रेस गोरखपुर	जनवरी 1982
47.	वेदान्तसार	सदानन्द	भारतीय विद्या प्रकाशन, वाराणसी	1967
48.	वेदान्तदर्शन	प0 श्रीराम शर्मा	संस्कृति संस्थान वरेली	प्रथमा 1964
49.	वेदान्तसार कौमुदी	डा0 रमाशंकर त्रिपाठी	विनोद पुस्तक मन्दिर आगरा	प्रथमा 1950
50.	वेदान्तसार विवृति	डा0 कृष्णकान्त त्रिपाठी	साहित्य भण्डार सुभाष बाजार मेरठ ।	द्वितीय 1975
51.	वैदिक दर्शन	डा0 कुवरलाल ब्यास	इतिहास विद्या प्रकाशन, दिल्ली	प्रथमा 1980
52.	वैदिक साहित्य और संस्कृति	आचार्य बलदेव उपाध्याय	शारदा संस्थान वाराणसी	पंचम 1980
53.	वृहदारण्कोपानिषद	कृष्णदास गोवन्दक	गीता प्रेस गोरखपुर	
54.	श्वेताश्वतरोपनिषद	कृष्णदास गोवन्दक	गीता प्रेस गोरखपुर	
55.	शिवपुराण		गीताप्रेस गोरखपुर	
56.	शिव सूत्र विमर्शिनी	क्षेमराज	कश्मीर संस्कृत ग्रन्थावली, दिल्ली, 1978	

57.	सर्वदर्शन संग्रह	माधवाचार्य	विद्याभवन, संस्कृत ग्रन्थमाला, वाराणसी	1978
58.	सांख्यकारिका	ईश्वरकृष्ण	मोतीला,बनारसीदास दिल्ली	1974
59.	सूर्य पुराण		गीता प्रैस, गोरखपुर	
60.	हरिवंश पुराण		गीता प्रैस, गोरखपुर	1974
61.	A text Book on child development	Rajammalp Deradas of N Jaya	Mdillian India limited	1984
62.	Child development	Dr. J.N. Vyas	Mediwarld press bikaner	Adtion 1994
63.	Speaking of child case	Dr. suraj Gupta	Sterling publisher privated imited New Delhi	2rd adtion 1991
64.	Element of child development	Kailas C panda	Sterling publisher private limited.	1991

शब्द कोष

क्रमांक	नाम	लेखक	प्रकाशन	प्रकाशन वर्ष
1.	संस्कृत शब्दार्थ कौस्तुभ	द्वारका प्रसाद शर्मा	रामनारायण लाल, इलाहाबाद	द्वितीय संस्करण
2.	भारतीय साहित्य शास्त्र कोष	डा0 राजवंश सहाय ''हीरा''	बिहार हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, पटना	प्रथमा 1973
3.	संस्कृत हिन्दी कोष	वामन वास्ते		
4.	हिन्दी अंग्रेजी शब्द कोष	ळरदेव वाहरी	राजपाल एण्ड सन्स कश्मीरी दिल्ली	प्रन्दहव 1997

ग्रन्थ सूची

कमांक	ग्रन्थ का नाम	लेखक	प्रकाशक	संस्करण
1.	अग्नि पुराण	हनुमान प्रसाद पोददार व्याख्याता	गीताप्रैस गोरखपुर	जनवरी 1970
2.	अर्थवेद		गीताप्रैस गोरखपुर	
3.	ईशावास्योपनिषद	डा0 वाचस्पति पाण्डेय	साहित्य भण्डार सुभाषबाजार, मेरठ।	1987
4.	उपनिषद रहस्य	चन्द्रवली त्रिपाटी	नेशनल पब्लिशिंग हाऊस, नई दिल्ली	1967
5.	उपनिषदड़्क		गीताप्रैस गोरखपुर	1949
6.	उपनिषदों का तत्वज्ञान	डा0 जयदेव बेदालड़्कार	प्राच्य विद्या शोध प्रतिष्ठान, हरिद्वार	शोधग्रथ 1980
7.	ऐतरेयोपनिषद्	कृष्णदास गोयन्दक	गीताप्रैस गोरखपुर	
8.	कठोपनिषद्	कृष्णदास गोयन्दक	गीताप्रैस गोरखपुर	
9.	कूर्म पुराणांक (कल्याण)		गीताप्रैस गोरखपुर	1997
10	केनोपनिषद्		गीताप्रैस गोरखपुर	1669
11	गरूड़ पुराण	प0ज्वाला प्रसाद चतुर्देदी	रंधीरप्रकाशन रेलवे रोड हरिद्वार	तृतीय 1999
12.	छान्दोग्योपनिषद्		गीताप्रैस गोरखपुर	प्रथम 1956
13.	तैतिरीयोपनिषद्		गीता प्रैस गोरखपुर	1999
14.	नारदपुराण	अन0पं0 ज्वालाप्रासाद चतुर्वेदी	गीता प्रैस गोरखपुर	